श्रीमते रामानुजाय नमः   श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः

भगवत्पाद-श्री रामानुजाचार्य प्रणीत

हिन्दी श्रीभाष्य

[पञ्चम भाग]

सम्पादकः-
जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र



स्वामी रामनारायणाचार्यजी
महाराज

हिन्दी व्याख्याकार

श्री शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)

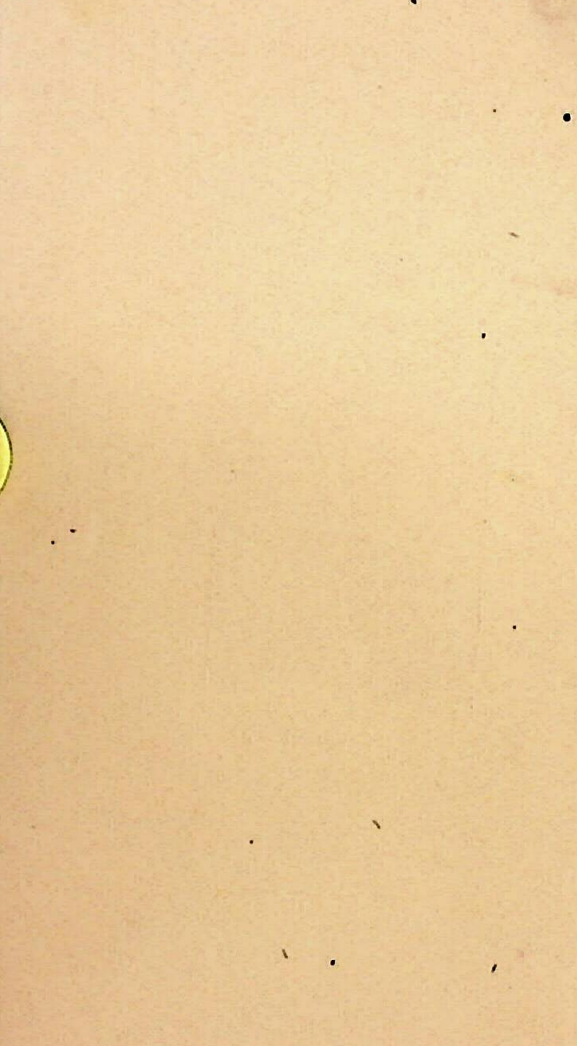
साहित्य वेदान्ताचार्य, एम० ए० (द्वय)

वेदान्त विभागाध्यक्ष, श्रीहनुमत् सं० म० विद्यालय

हनुमानगढ़ी, अयोध्या

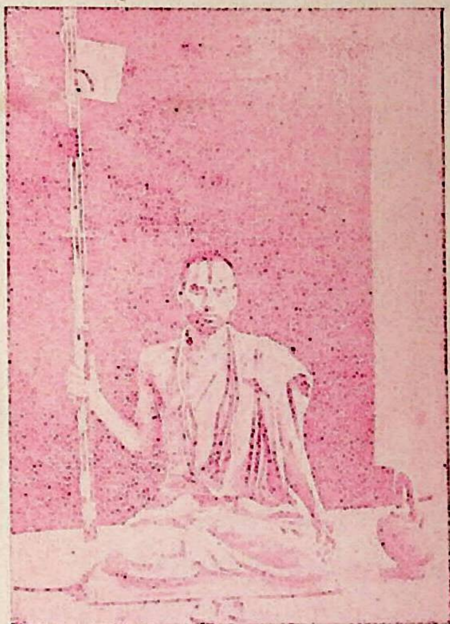
प्रथमावृत्ति	मूल्य	फाल्गुन
१०००	३) रुपये	२०३४ विक्रमाब्द

डाक व्यय पृथक्



-:(स म र्प ण):-

श्री १००८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य सत्सम्प्रदाचार्य श्रीपति पीठ षष्ठ सिंहासनाधिपति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय



श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य श्रीत्रिदण्डिस्वामिन्

परमाचार्य !

आपकी ही कृपा समृद्धि से समुद्भूत श्रीभाग्य खण्ड पुष्पों की महामाला के इस पञ्चम पुष्प से २०३४ वर्षीय श्रीवैकुण्ठ नाथ भगवान के ब्रह्मोत्सव के पावन पर्व पर श्रीमत्क श्री चरणों को समलंकृत करने का साहस इस विश्वास से कर रहा हूं कि श्रीमान् अपनी वस्तु को इस नव परिवेश में प्रेक्षण जन्य अमन्दानन्द का अनुभव करेंगे।

श्रीमत्कादपद्मपराग भृत्य
श्रीधराचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी
श्याम सदन कटरा अयोध्या (उ० प्र०)

विषय—सूची



भूमिका

मनो मे याहित्वं परमगुरूसेनार्य पद्योः
न यत्राऽस्ते शोको भवतिचविमोकोन्धतमसाम् ।
रसानां दिव्यानां क्षरणपटुश्रीशाङ्घ्रियुगले
प्रदास्यन्तिप्रीतेर्वरमखिल लोकस्यगुरवः ॥

हिन्दी श्रीभाष्य के पञ्चम भाग का प्रारम्भ सप्तविधानुपपत्ति से होना है । श्रीभाष्यकार ने अद्वैती सम्मत अविद्या के विषय में सातप्रकार के अपरिहार्य दोषों का उल्लेख किया है-वे दोषये हैं-(१) आश्रयानुपपत्ति, (२) तिरोधानानुपपत्ति (३) स्वरूपानुपपत्ति (४) अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति (५) प्रमाणानुपपत्ति(६) निवर्तकानुपपत्ति और (७) निवर्त्यानुपपत्ति ।

आश्रयानुपपत्ति की चर्चा करते हुए श्रीभाष्यकार स्वामी ने कहा कि अज्ञान भ्रम को उत्पन्न करने के लिए अपना आश्रय किसको बनाता है इस बात का विचार होना अनिवार्य है । अज्ञान का आश्रय जीव इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि अद्वैत सिद्धान्तानुसार अविद्योपहित भ्रान्त चैतन्य को जीव कहते हैं, अतएव भ्रम होने से पहले जीव का होना संभव नहीं है । अज्ञान स्वयं प्रकाश ब्रह्म को अपना आश्रय इसलिए नही बना सकता है कि ज्ञान स्वरूप ब्रह्म उसका विरोधी है । किञ्च अज्ञान

को ज्ञान बाध्य भी माना जाता है। ज्ञान निवर्त्य अज्ञान ही यदि ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को ढंक लेगा तो फिर उस अज्ञान को कौन नष्ट कर सकता है? यदि यह कहा जाय कि ज्ञान स्वरूप ब्रह्म अज्ञान को नहीं नष्ट करता अपितु ज्ञान स्वरुप ब्रह्म का ज्ञान ही उसको नष्ट करता है। तो यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि अज्ञान उस ज्ञान को भी ज्ञान स्वरुप ब्रह्म के ही समान तिरोहित कर देगा। किञ्च-आपके सिद्धान्तानुसार 'ज्ञानं ब्रह्म' इस ज्ञान का विषय ब्रह्म को बनने पर वह भी अनु-भाव्य घटादि के समान जड़ एवं अनुभूति व्यतिरिक्त सिद्ध हो जायेगा।

तिरोधानानुपपत्ति-की चर्चा करते हुए अपने कहा कि ज्ञान स्वरुप ब्रह्म को अज्ञान तिरोहित कर देता है. अद्वैती विद्वानों का यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि प्रकाश (ज्ञान) का तिरो-धान अज्ञान दो ही प्रकार से कर सकता है। प्रकाश की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक बनकर अथवा विद्यमान प्रकाश को नष्ट करके। अद्वैती विद्वान् ज्ञान की उत्पत्ति को तो स्वीकार नहीं करते हैं अतएव वह प्रकाश का नाश ही करके उसका तिरोधान कर सकता है। और ऐसा स्वीकार करने पर ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप का ही नाश हो जायेगा।

स्वरुपानुपपत्ति-की चर्चा करते हुए आपने कहा कि अद्वैती विद्वान् यह जो कहते हैं कि यद्यपि ज्ञानस्वरुप अनुभूति आश्रय एवं विषय से रहित है फिर भी वह अपने को आश्रय बनाने वाले

अज्ञान रूपी दोष के कारण अनेक आश्रयों एवं विषयों को देखता है। तो वे ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि पहले उन्हें यह बतलाना चाहिये कि उनके मत में अविद्या परमार्थ है अथवा अपरमार्थ? परमार्थ मानने पर तो द्वैतापत्ति होने से अद्वैत भङ्ग होने लगेगा। यदि अपरमार्थ मानें तो अविद्या को तीन प्रकार का ही माना जा सकता है, (१) द्रष्टा (II) दृश्य (विषय) और (III) दृशि (ज्ञान)। द्रष्टा और दृश्य रूप तो इसलिए नहीं मानी जा सकती है कि उसके अपरमार्थ होने के कारण भ्रम के लिए उसके मूलभूत किसी दूसरे दोष को स्वीकार करना होगा और इस स्वीकृत दोष के भी अपरमार्थ होने के कारण उससे भी भिन्न किसी दूसरे दोष को उस भ्रम का मूल मानना होगा। इस तरह से अनन्तापेक्षकत्व रूप अनवस्था नामक दोष होगा। अविद्या को ज्ञान स्वरुप तो कहना अनुचित ही होगा क्योंकि माध्यमिक बौद्ध भी भ्रम का कारण अज्ञान को ही मानते हैं, ऐसी स्थिति में आप और माध्यमिक बौद्धों में मतभेद नहीं होना चाहिये। किञ्च उस ज्ञान के भी काल्पनिक होने के कारण उसके भी भ्रम के लिए मूल दोषान्तर की अपेक्षा रूपी अनवस्था होगी। यदि ब्रह्म को ही दोष मानें तो फिर भ्रम का मूल वही हो सकता है, अविद्या को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। किञ्च ब्रह्म के नित्य होने के कारण फिर अद्वैत सिद्धान्त में कभी मोक्ष ही नहीं होगा। अतएव भ्रम को सिद्ध करने के लिए ब्रह्म से भिन्न कोई परमार्थ दोष स्वीकार करना होगा ही।

अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति-की चर्चा करते हुए श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने कहा कि अद्वैती विद्वान् अज्ञान को सदसदनिर्वचनीय मानते हैं। अर्थात् अज्ञान सत् शब्द वाच्य इस लिए नहीं है कि उसका बाध होता है और सत् का कभी बाध नहीं होता है। अविद्या असत शब्द वाच्य इसलिए नहीं है कि उसकी प्रतीति होती है। अतएव वह सदसदनिर्वचनीय है। तो उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि सभी वस्तुओं की व्यवस्था प्रतीति के अनुसार ही होती है। प्रतीतियाँ दो ही प्रकार की हुआ करती हैं-(१) सत् और असत्। अतएव तद् विषयत्वेन व्यवस्थाप्य वस्तुएँ भी दो ही प्रकार की हो सकती हैं (१)सत् (२) और असत्। इनसे भिन्न प्रकार की वस्तु का वस्तुत; अभाव होने से अनिर्वचनीय अविद्या को अनिर्वचनीय (अभावरुप) ही मानना चाहिए।

प्रमाणानुपपत्ति-की चर्चा करते हुए आपने कहा-अद्वैती विद्वान् सदसदनिर्वचनीय अज्ञान को ज्ञानविरोधी तथा भावरूप मानते हैं। वे कहते हैं कि भावरुप अज्ञान की सिद्धि 'मैं अज्ञ हूँ' 'न तो मैं अपने को जानता हूँ और न तो दूसरे को' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवों के द्वारा तथा अनुमान प्रमाण के द्वारा भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है। इस प्रसंग में भगवत्पाद श्री रामानुजाचार्य ने भावरूप अज्ञान में उपस्थापित अद्वैती विद्वानों के सभी प्रमाणों का साङ्ग खण्डन किया है। साथ ही आपने विस्तार पूर्वक सिद्ध किया है कि भावरूप अज्ञान की सिद्धि श्रौत एवं स्मार्त वाक्यों द्वारा नही होती है। इसी प्रसङ्ग में

आपने अद्वैती विद्वानों द्वारा उद्धृत सभी श्रुतियों एवं स्मृतियों तथा पुराणों के वाक्यों के प्रकरण पर्यालोचन पुरस्सर सदर्थ का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकरण में आपने अन्य सभी ख्यातियों का भी खण्डन कर यथार्थख्याति का सम्यक् समर्थन किया है।

शेष निवृत्यानुपपत्ति और निवर्तकानुपपत्ति की चर्चा अगले भाग में की जायेगी।

मैंने चतुर्थ खण्ड के उपोद्घात में इस बात की चर्चा की है कि श्रीभाष्य के प्रणयन में श्री वत्सचिन्ह मिश्र का उल्लेखनीय सहयोग रहा है। श्री भाष्य की यद्यपि प्राचीन अनेक कई टीकाएँ हैं, फिर भी उनमें साङ्गोपाङ्ग श्रीभाष्य की संस्कृत व्याख्या श्रुतप्रकाशिका ही है। अतएव प्रस्तुत खण्ड का प्रारम्भ श्रुतप्रकाशिकाकार श्री सुदर्शन सूरि के तनियन श्लोक से हुआ है। नीचे श्रुतिप्रकाशिकाकार श्रीसुदर्शन सूरि का संक्षिप्त जीवन चरित्रप्रस्तुत किया जा रहा है।

श्रुतप्रकाशिकाकार का संक्षिप्त जीवन चरित्र

श्रीभाष्यकार भगवत्पाद रामानुजाचार्य के अन्तरङ्ग शिष्यों में हारीत कुल तिलक श्रीवत्साङ्क मिश्र (कूरत्ताल्वान्) स्वामी के दो प्रख्यात विद्वान् पुत्र थे (१) श्रीपराशरभट्टर और (॥) श्री वेदव्यासाचार्य अथवा श्रीराममिश्राचार्य। श्रीपराशरभट्टर के ज्ञान वैराग्य की महिमा शायद सरस्वती भी वर्णन करने में असमर्थ हैं। वे साक्षात् भगवान् रङ्गनाथ के पुरोहित एवं अनेक ग्रन्थों के प्रणेता हैं। श्री वेदव्यासाचार्य के दो पुत्र हुए

(।) श्री वाग्विजयी भट्ट एवं (।।) श्री सर्वज्ञ भट्ट । श्री वाग्विजयी भट्ट स्वामी के पुत्र श्री सुदर्शनाचार्य स्वामी हुए जिन्होंने श्रुतप्रकाशिका व्याख्या का निर्माण किया । श्रुतप्रकाशिका के प्रारम्भ में स्वयं श्री सुदर्शन सूरि लिखते हैं–

'वाचाविजयिनः पुत्र भाष्य भक्तिरच्चदत् ।।)

श्रीभाष्यकार श्रीरामानुजाचार्य ने जिन चौहत्तर पीठों की स्थापना की उनमें एक पीठ के अधिपति श्री नडादुर आल्वान स्वामी हुए । आप श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य के भागिनेय थे । श्री नडादूर आल्वान् स्वामी के पुत्र श्रीवात्स्यवरदाचार्य स्वामी हुए । आप सकल शास्त्र पारदृश्वा विद्वान् एवं भगवद् भक्तों में अग्रगण्य थे । श्री सुदर्शनाचार्य स्वामी ने आपकी ही सन्निधि में सभी शास्त्रों का अध्ययन किया और अनेकवार विस्तृत व्याख्या पूर्वक श्रीभाष्य का साङ्गोपाङ्ग श्रवण किया । आप आचार्य की सन्निधि में जो कुछ भी सुनते थे उसको अपने घर पर आकर तालपात्र पर लिखकर सुरक्षित कर लेते थे । एक वार कुछ नवीन छात्र आचार्य श्रीवात्स्य वरदाचार्य की सन्निधि में श्रीभाष्य का अध्ययन करने के लिए आये । उस समय आप भी उन लोगों के साथ बैठकर श्रीभाष्य का अर्थ सुन रहे थे । पढाते समय आचार्य अपने प्राचीन छात्र श्रीसुदर्शन सूरि से विभिन्नवाक्यों का अर्थ पूछ लेते थे और आप भी आचार्य द्वारा वर्णित सभी अर्थों को बतला देते । यह देखकर आचार्य को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह किस प्रकार याद रखता है कि मैंने श्रीभाष्य को

विस्तार व्याख्या करते हुए किस अर्थ विशेष का वर्णन किया है ? उन्होंने इसका रहस्य पूछा तो आपने वतलाया कि आचार्य पाद द्वारा वर्णित प्रत्येक व्याख्याओं को मैंने ताल पत्र पर लिख कर सुरक्षित कर लिया है। आचार्यपाद ने उसे देखने की इच्छा व्यक्त की। आपने जव उस ताल पत्र कोश को लाकर आचार्य चरणों के समक्ष रखा तो श्रीवात्स्यवरदाचार्य स्वामी अपने इस शिष्य की कृति को देखकर फूले न समाये। उन्होंने अपने हाथों उस कोश का नाम श्रुतप्रकाशिका लिख दिया।

यद्यपि श्रीभाष्य की अनेक व्याख्याएँ है किन्तु इस व्याख्या के समान कोई भी व्याख्या नहीं है। यह छत्तीस हजार श्लोक परिमित व्याख्या है। इसमें -वाक्यों के अनेकअवतरण तथा अनेक अर्थों का वर्णन, अद्भुत आशयों का आविष्करण-वाक्यों के प्रत्येकपदों का परिशीलन, अधिकरणों के सभी अङ्गो का संशीलन, उनके फल फलिभावका प्रदर्शन, संगतियों का विचार, प्रत्येक अधिकरणों में शांकर, यादव एवं भास्करमत का खण्डन, अन्य सभी संभव आक्षेपों का समाधान, विशद वाक्यशैली में किया गया है- इन सभी विशेषताओं से युक्त रहने पर भी इस व्याख्या में अनावश्यक और अप्रस्तुत विषय का कहीं भी वर्णन नहीं देखा जा सकता है।

श्री सुदर्शन सूरि ने अपने अन्तिम काल में श्रुतप्रकाशिका के संरक्षण का भार श्री वेदान्त देशिक स्वामी के ऊपर रख छोड़ा था श्री सुदर्शन सूरि ने श्रुतप्रकाशिका के अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया उनमें कुछ के नाम इस प्रकारहैं–

श्रुत प्रदीपिका (संग्रह रूप व्याख्यान) वेदार्थ संग्रह की तात्पर्य दीपिका, सुवालोपनिषद् विवृति, शरणागति गद्य व्याख्या, सन्ध्यावन्दन भाष्य तथा श्रीमद्भागवत महापुराण की 'शुकपक्षीयम्' नामक व्याख्या इत्यादि ।

श्रुतप्रकाशिका की ही व्याख्या श्रीरङ्गरामानुजाचार्य प्रणीत भावप्रकाशिका है ।

अन्त में विज्ञ पाठकों से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की संभावित त्रुटियों द्वारा इस अपने विधेय को भी अवगत कराते रहकर अनुगृहीत करें ।

हिन्दी श्रीभाष्य के प्रकाशन में श्रीवेङ्कटेश देवस्थान ट्रष्ट, ८०।८४ फणसवाड़ी वम्बई का उल्लेखनीय १००००) दस हजार रुपयों का सहयोग प्राप्त हो चुका है । ज० गु० रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी रामनारायणाचार्य जी महाराज का श्रीभाष्य के ग्राहक बनाने का अतुलनीय प्रयास ही इस प्रकाशन का प्रणाधार है । मैं अपने ग्राहकों का इसलिए अत्यन्त आभारी हूँ कि इन लोगों ने अपनी ग्राहकता स्वीकार कर इस अत्यन्त पवित्र ग्रन्थ के प्रकाशन में मुझ अकिञ्चन को पूर्ण सहयोग दिया है ।



श्रीवत्सवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्रं नित्यं त्वनन्तगुरुवर्यतनूजरत्नम् ।
श्रीमज्जगद्गुरु कृपापरिलब्धबोधं श्रीकृष्णदेशिकमहं शरणं प्रपद्ये ॥



श्रीकाञ्ची प्रतिवादि भयंकर मठाधीश जगद्गुरु गादि
श्री नरकृष्णमाचार्य स्वामीजी महाराज

श्रीः

श्रीमते रामानुजाय नमः　　　　श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः

हिन्दी श्रीभाष्य

[पञ्चम भाग]

अद्भुतज्ञानविख्यातवरदार्यदयावशात् ।
व्यासं सुदर्शनार्यं तं सुदर्शनसमं श्रये ॥

 सप्तविधानुपपत्ति का प्रारम्भ 

मूल—यदप्युच्यते—निर्विशेषे स्वयं प्रकाशे वस्तुनि दोषपरिकल्पितमीश्वरेशितव्याद्यनन्त विकल्पं सर्वं जगत्, दोषश्च स्वरूपतिरोधानविविधविचित्रविक्षेपकरी सदसदनिर्वचनीयानाद्यविद्या, सा चावश्याभ्युपगमनीया, "अनृतेन हि प्रत्यूढाः" (छा० ८।३।२) इत्यादिभिः श्रुतिभिः, ब्रह्मणस्तत्वमस्यादिवाक्य सामानाधिकरण्यावगत जीवैक्यानुपपत्त्या च। सा तु न सती, भ्रान्तिबाधयोरयोगात्। नाप्यसती ख्यातिबाधयोश्चायोगात्। अतः कोटिद्वय विनिर्मुक्तेयमविद्येति तत्त्वविद—इति।

अनुवाद— अज्ञानं प्रविदार्य मे हृदिगतं सन्दर्शयन्तोऽपि माम्।
श्रीभाष्ये निहितान् सदर्थनिचयान् वैक्लव्य सीदद्दृशम् ॥
लोकालोककराः श्रितार्तिहरणे शार्दूलविक्रीडिताः।
विष्वक्सेन गुरोः पवित्रचरणाः स्यु मे सदा रक्षकाः ॥

अद्वैती विद्वान् यह जो कहते हैं कि– निर्विशेष स्वयं प्रकाश ब्रह्म में ही नियामक नियाम्य रूप अनन्त भेदों से युक्त सम्पूर्ण जगत्, दोष के द्वारा परिकल्पित है। (इस पर प्रश्न यह उठता है कि यदि ब्रह्म से भिन्न आप दोष को भी मानते हैं तो फिर अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती है, तो इसका उत्तर देते हुए अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि) वस्तु के स्वरूप को तिरोहित कर देने वाली तथा उसके स्थान पर अनेक आश्चर्यमय (धर्मों का विस्तार कर देने वाली) जिसे न तो सत् शब्द से ही कहा जा सकता है और न तो असत् शब्द से ही, ऐसी अनादिकाल से प्रवृत्त अविद्या ही वह दोष है (जो सम्पूर्ण जगत् की कल्पना कर देती है।) "मिथ्या अज्ञान से ही सम्पूर्ण जगत् आच्छन्न है" इत्यादि श्रुतियों तथा तत्त्वमसि आदि वाक्यों के द्वारा ज्ञात होने वाले ब्रह्म के साथ जीवों की ऐक्यानुपपत्ति के कारण उस अविद्या को अवश्य स्वीकार करना चाहिये। किन्तु वह अविद्या सत् (सत्य) नहीं है क्योंकि सत् वस्तु का भ्रम तथा बाध नहीं होता है, किन्तु अविद्या का भ्रम और बाध होता है।) वह असत् इसलिए नहीं मानी जा सकती है कि (उसकी प्रतीति भी होती है और बाध भी होता है किन्तु जो वस्तु असत् होती है उसकी) न तो प्रतीति हो सकती है और न तो प्रतीति का बाध ही। अतएव (सत् एवं असत् इन) दोनों कोटियों से यह अविद्या विनिर्मुक्त है ऐसा तत्त्वों के जानकार (लोग कहते हैं)

टिप्पणी–अद्वैत सिद्धान्त का मूल अध्यास है। उनका कहना है कि वस्तुतः ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। वह शुद्ध बुद्ध ज्ञान

स्वरूप है। उसको छोड़कर प्रतीयमान सम्पूर्ण विविध भेदात्मक प्रपञ्च मिथ्या है। यह सारा जगत् अविद्या से ही ब्रह्म में अध्यस्त है। अध्यास पदार्थ क्या है– इसको बतलाते हुए अद्वैती विद्वानों ने कहा कि– किसी एक वस्तु में उससे व्यतिरिक्त वस्तु के धर्मों की प्रतीति का होना ही अध्यास कहलाता है। ज्ञानमात्र सूक्ष्म आत्मा में शरीर के स्थूलत्व कृशत्व आदि धर्मों की प्रतीति अध्यास के कारण होने लगती है। काणत्व बधिरत्व आदि धर्म इन्द्रियों के हैं किन्तु जब उनका आत्मा में अध्यास हो जाता है तो हम कहने लगते हैं यह अन्धा है, यह काना है, यह बहरा है इत्यादि। अतएव किसी वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के धर्मों की प्रतीति का होने लगना ही अध्यास है। अध्यास में भ्रम के आधार का सत्य होना आवश्यक है। रस्सी में जो सर्प का भ्रम होता है वह इसलिए कि उस भ्रम का आधार रस्सी सत्य है। उसमें प्रतीत होने वाला सर्प और उसके धर्म मिथ्या हैं। यह सत्य वस्तु मे असत्य धर्मों को प्रतीति का जो कारण है उसे ही अविद्या अथवा अज्ञान कहते हैं। उस अज्ञान की दो शक्तियां होती हैं, आवरण और विक्षेप। इन दोनों शक्तियों का संकेत श्रीभाष्यकार अद्वैती विद्वानों की पंक्तियों का अनुवाद करते हुए "दोषश्च" इत्यादि पंक्तियों के द्वारा किये हैं।

अज्ञान अपनी जिस शक्ति के द्वारा वस्तु के स्वरूप को तिरोहित कर देता है उसे उसकी आवरण शक्ति कहते हैं तथा अपनी जिस शक्ति के द्वारा वस्तु में तद्व्यतिरिक्त वस्तुओं के धर्म

की प्रतीति कराता है उसे उसकी विक्षेप शक्ति कहते हैं। जैसे—अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी का स्वरूप अज्ञान की आवरण शक्ति के कारण तिरोहित होता है तथा उसकी विक्षेप शक्ति के द्वारा रस्सी में सर्पादि की प्रतीति होती है।

अविद्या के विषय में यह प्रश्न उठता है कि अविद्या सत् है कि असत् तो इसके उत्तर में अद्वैती विद्वानों का कहना है कि अविद्या सदसदनिर्वचनीय है। अर्थात् न तो उसे सत् ही कहा जा सकता है और न तो असत् ही। अविद्या को सत् इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि उसका भ्रम भी होता है और वाध भी। किन्तु सत् वस्तु का न तो भ्रम होता है और न तो वाध ही। सत् वस्तु की तो प्रमा होती है। और सत् वस्तु का कभी वाध तो होता ही नहीं। अविद्या को असत् इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि उसकी प्रतीति होती है। जो वस्तु असत् होती है उसको प्रतीति नहीं होती है। असत् वन्ध्यापुत्रों को किसने देखा है ? संसार में पायी जाने वाली जितनी वस्तुएँ हैं वे या तो सत् कोटि में आती हैं अथवा असत् कोटि में। अविद्या इन दोनों सत् और असत् कोटियों से विनिर्मुक्त है।

एक प्रश्न यह उठता है कि अविद्या को क्यों स्वीकार किया जाय तो ? इसका उत्तर देते हुए अद्वैती विद्वानों का कहना है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि सामानाधिकरण्य वाक्यों के द्वारा ज्ञात होता है कि ब्रह्म और जीव में अभेद है। अतएव भेद भ्रमात्मक है। उस भेद प्रतीति रूप भ्रम का कारण क्या है ? इस प्रश्न का

उत्तर है कि अज्ञान (अविद्या हो) उसका कारण है क्योंकि 'अनृतेन हि प्रत्यूढ़ाः' श्रुति अनृत शब्द वाच्य अज्ञान को ही भ्रम का कारण स्पष्ट रूप से बतलाती है।

आश्रयानुपपत्ति

तदयुक्तम्—सा हि किमाश्रित्य भ्रमं जनयतीति वक्तव्यम्। न तावज्जीवमाश्रित्य, अविद्यापरिकल्पितत्वाज्जीवभावस्य नापि ब्रह्माश्रित्य तस्य स्वयंप्रकाशज्ञान स्वरूपत्वेनाविद्याविरोधित्वात्। सा हि ज्ञानबाध्याभिमता।

ज्ञानरूपं परंब्रह्म तन्निवर्त्यं मृषात्मकम्।
अज्ञानं चेत् तिरस्कुर्यात् कः प्रभुस्तन्निवर्तने॥
ज्ञानं ब्रह्मेति चेज्ज्ञानमज्ञानस्य निवर्तकम्।
ब्रह्मवत् तत्प्रकाशत्वात् तदपि ह्यनिवर्तकम्॥
ज्ञानं ब्रह्मेति विज्ञानमस्ति चेत् स्यात् प्रमेयता।
ब्रह्मणोऽननुभूतित्वं त्वदुक्त्यैव प्रसज्यते॥
(नाथमुनिकारिका)

ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेति ज्ञानं तस्या अविद्याया बाधकं, न स्वरूपभूत ज्ञानमिति चेन्न, उभयोरपि ब्रह्मस्वरूपप्रकाशत्वे सत्यन्यतरस्याविद्याविरोधित्वमन्यतरस्य नेति विशेषान-

वगमात् । एतदुक्तं भवति— ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मेत्यनेन ज्ञानेन ब्रह्मणि यः स्वभावोऽवगम्यते स ब्रह्मणः स्वयं प्रकाशत्वेन स्वयमेव प्रकाशत इत्यविद्याविरोधित्वे न तद्विषयं ज्ञानमस्ति । अतो ज्ञानमज्ञानविरोधि चेत् स्वयमेव विरोधीभवतीति— नास्या ब्रह्माश्रयत्वसंभवः, शुक्त्यादयस्तु स्वयाथात्म्यप्रकाशेस्वयम समर्थाःस्वाज्ञानाविरोधिनस्तन्निवर्तने च ज्ञानान्तरमपेक्षन्ते । ब्रह्म तु स्वानुभवसिद्ध स्वयाथात्म्यमिति स्वाज्ञानविरोध्येव तत एव निवर्तकान्तरं च नापेक्षते ।

संगति–(उपर्युक्त अनुच्छेद में अद्वैती विद्वानों के अध्यास विषयक विचार का अनुवाद किया गया है। तदयुक्तम्– इत्यादि वाक्य से उपर्युक्त कथन में अनुपपत्तियाँ दिखाई जा रही हैं। श्रीभाष्यकार सात प्रकार की अनुपपत्तियाँ अध्यासवाद में दिखाये हैं। वे हैं–(१) आश्रयानुपपत्ति,(२) तिरोधानानुपपत्ति, (३) स्वरूपानुपपत्ति, (४) अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति (५) प्रमाणानुपपत्ति (६) निवर्तकानुपपत्ति और (७)निवर्त्यानुपपत्ति । इनमें सर्वप्रथम आश्रयानुपपत्ति दिखलाई जाती है।)

अनुवाद– अद्वैती विद्वानों का उपर्युक्त कथन अनुचित है– क्योंकि वह अविद्या अपना क्या आधार बनाकर भ्रम को उत्पन्न करती है ? यह अद्वैती विद्वानों को बतलाना चाहिये । जीव को

अपना आश्रय वनाकर (वह भ्रम पैदा करती है) यह तो नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जीवभाव अविद्याकल्पित है (अत एव भ्रम होने से पहले जीव की सत्ता स्वीकार ही नहीं की जा सकती है।) ब्रह्म को भी आश्रय वनाकर (वह भ्रम की जननी नहीं हो सकती है) क्योंकि ब्रह्म स्वयंप्रकाश एवं ज्ञानस्वरूप होने के कारण अज्ञान का विरोधी है। (अतएव अपने विरोधी ब्रह्म को अविद्या अपना आश्रय कैसे वना सकती है?) किञ्च अद्वैती विद्वान् यह मानते हैं कि अविद्या ज्ञान के द्वारा वाधित होती है।

(इस अर्थ का खण्डन करते हुए) श्रीनाथमुनि अपनी कारिकाओं में कहे भी हैं–)

यदि ज्ञान स्वरूप परं ब्रह्म को ज्ञान के द्वारा निवर्तित किये जाने वाला मिथ्या अज्ञान ही ढँक लेता है तो फिर उस अज्ञान की निवृत्ति करने में कौन सा साधन समर्थ हो सकता है ? यदि (अद्वैती विद्वान् यह कहें कि) ज्ञान ही ब्रह्म है इस प्रकार का ज्ञान ही उस अज्ञान (अविद्या) का निवर्तक है, तो वह ज्ञान भी उसका निवर्तक नहीं हो सकता क्योंकि वह ज्ञान भी ब्रह्म के ही समान प्रकाश स्वरूप है। अतएव अज्ञान उसे भी ब्रह्म के ही समान तिरोहित कर देगा। किञ्च ज्ञान ही ब्रह्म है इस प्रकार का विज्ञान यदि किसी को होता है तो फिर ब्रह्म भी उसी तरह से प्रमा का विषय वनेगा जिस तरह घट आदि। और प्रमेय वस्तुओं को जिस तरह आप अनुभूति व्यतिरिक्त मानते हैं उसी तरह से ब्रह्म भी आपके ही वचनों से अनुभूति व्यतिरिक्त सिद्ध हो

जायेगा। (श्रीनाथ मुनि के इन तीन श्लोकों में पहले श्लोक की व्याख्या श्रीभाष्यकार पहले कर चुके हैं अब दूसरे श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं। ज्ञानस्वरूपमित्यादि अर्थात् यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि–) ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, इस प्रकार का ज्ञान हीं उस अविद्या का वाधक है स्वरूपभूत ज्ञान अविद्या का वाधक नहीं है, तो यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि जब दोनों ज्ञान स्वरूप को ही अपना विषय बनाते हैं तो फिर दोनों में किसी प्रकार की विशेषता न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता है कि इनमें (अमुक) ज्ञान अज्ञान का विरोधी है और अमुक ज्ञान नहीं। कहने का अभिप्राय है कि– ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, इस ज्ञान के द्वारा ब्रह्म में जिस स्वभाव का ज्ञान होता है, वह स्वभाव ब्रह्म के स्वयं प्रकाश होने के कारण स्वयं ही प्रकाशित होता रहता है, इसलिये दोनों के अविद्या का विरोधी होने के विषय में ब्रह्म के स्वरूप एवं ब्रह्म के स्वरूप विषयक ज्ञान में कोई भेद नही है।

दूसरी वात यह कि आप यह मानते हैं कि ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, तथा वह किसी दूसरे ज्ञान का विषय नहीं वनता है, अतएव आपके सिद्धान्त में ब्रह्म विषयक ज्ञान स्वीकार ही नहीं किया जा सकताहै। किन्तु यदि ज्ञान अज्ञान काविरोधी है तो फिर स्वयं ब्रह्म का विरोधी होने के कारण अज्ञान ब्रह्म को अपना आश्रय नहीं वना सकता है।

(यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि ब्रह्म भ्रम का अधिष्ठान है अतएव वह स्वरूपतः उसी तरह अज्ञान का विरोधी नहीं होता जिस तरह सर्पादि भ्रम के अधिष्ठान भूत रस्सी स्वयं अज्ञान का विरोधी नहीं होती है। किञ्च स्वगत अज्ञान की निवृत्ति के लिए उसको जैसे साधनान्तर प्रकाशादि की अपेक्षा होती है उसी तरह से ब्रह्म को भी स्वगत अज्ञान की निवृत्ति के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा होती है तो इसका उत्तर देते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं कि–) शुक्ति आदि तो अपने वास्तविक स्वरूप के प्रकाशन में स्वयम् असमर्थ हैं, तथा अपने अज्ञान के विरोधी भी नहीं हैं अतएव उस स्वगत अज्ञान को निवृत्ति के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखते हैं। किन्तु ब्रह्म के स्वरूप का यथोचित ज्ञान तो अपने अनुभव से ही सिद्ध है, अतएव वह स्वगत अज्ञान का विरोधी भी है, फलतः उसे स्वगत अज्ञान की निवृत्ति के लिए किसी दूसरे निवर्तक की आवश्यकता भी नहीं होती है।

टिप्पणी– न तावज्जीवमाश्रित्य– वाक्य का आशय है कि जीव को अविद्या का आश्रय नहीं माना जा सकता है क्योंकि वैसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। अविद्या की सिद्धि हुए विना जीव की सिद्धि नहीं हो सकती है और जीव की सिद्धि हुए विना अविद्या की सिद्धि नहीं हो सकती है।

'किञ्च'– इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि अज्ञान का निवर्तक वही ज्ञान हो सकता है जो प्रमाण ज्ञान हो। अतएव

अधिष्ठानभूत ब्रह्म का स्वरूप यद्यपि ज्ञान स्वरूप है फिर भी वह प्रमाण ज्ञान न होने के कारण स्वयं अविद्या का निवर्तक नहीं हो सकता है। किञ्च– जो जो भ्रम का अधिष्ठान होता है, वह वह भ्रम का निवर्तक नहीं होता, जैसे रजतादि भ्रम के अधिष्ठान शुक्ति आदि। किञ्च– जिस तरह शुक्ति आदि को अपने भ्रम की निवृति के लिए प्रमाणान्तर की आवश्यकता होती है उसी तरह ब्रह्म का स्वरूप भ्रम का विरोधी नहीं होने के कारण भ्रम की निवृति के लिये प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखता है।

शुक्त्यादयस्तु– इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि शुक्ति आदि अधिष्ठान होने के कारण स्वरूप स्फुरणार्थ प्रमाणान्तर सापेक्ष हैं ऐसी बात नहीं है, अपितु वे जड होने के कारण स्वरूप स्फूर्ति के लिये प्रमाणान्तर सापेक्ष हैं। ब्रह्म तो जड है नहीं अतएव उसे अपने स्वरूप के स्फुरण के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है।

अद्वैती विद्वानों का दो ही कहना है। वे कहते हैं कि (१) भ्रम की निवृत्ति ब्रह्म विषयक प्रमाणज्ञान के द्वारा ही होती हैं। अथवा (२) भ्रम की निवृत्ति प्रपञ्च के मिथ्यात्व ज्ञान के द्वारा होता है। इसमें पहले पक्ष का खण्डन इस अनुच्छेद में किया जा चुका है। क्योंकि अद्वैती विद्वान् स्वरूप ज्ञान को अज्ञान का निवर्तक नहीं मानते हैं, ऐसी स्थिति में साक्षिवेद्य सुखादि के विषय में भी भ्रम होने लगेगा। किञ्च यदि स्वरूप ज्ञान अज्ञान

का विरोधी नहीं होगा तो वह उसी तरह जड सिद्ध होगा जिस तरह ज्ञान के अविरोधी घट आदि जड़ है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म विषयक प्रमाणज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है ब्रह्म का स्वरूप नहीं।

मूल—अथोच्येत— ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्व ज्ञानमज्ञान विरोधीति, न, इदं ब्रह्मव्यतिरिक्त मिथ्यात्वज्ञानं किं ब्रह्मयाथात्म्याज्ञान विरोधि ? उत प्रपञ्चसत्यत्वरूपाज्ञानविरोधि ? इति विवेचनीयम्। न तावद् ब्रह्म याथात्म्याज्ञानविरोधि, अतद्विषयत्वात्। ज्ञानाज्ञानयोरेक विषयत्वेन हि विरोधः प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानं च तत्सत्यत्वरूपाज्ञानेन हि विरुद्धयते। तेन प्रपञ्चसत्यत्वरूपाज्ञानमेव बाधितमिति ब्रह्मस्वरूपाज्ञानं तिष्ठत्येव। ब्रह्मस्वरूप ज्ञानं नाम— तस्य सद्वितीयत्वमेव। तत्तु तद्व्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वज्ञानेन निवृत्तम्। स्वरूपं तु स्वानुभवसिद्धमिति चेत् न, ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं स्वरूपं स्वानुभवसिद्धमिति तद्विरोधि सद्वितीयत्वरूपाज्ञानं तद् बाधश्च न स्याताम्। अद्वितीयत्वं धर्म इति चेत् न, अनुभवस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनुभाव्यधर्मविरहस्य भवतैव प्रतिपादितत्वात् अतो ज्ञान स्वरूपस्य ब्रह्मणो विरोधादेवनाज्ञानाश्रयत्वम्।

अनुवाद– यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है। तो वे यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि यहाँ इस बात की विवेचना अपेक्षित है कि ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान किसका विरोधी है ? ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के अज्ञान का विरोधी है अथवा प्रपञ्च के सत्यत्व रूप अज्ञान का विरोधी है

ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के अज्ञान का विरोधी तो उसे इसलिए नहीं माना जा सकता है कि ब्रह्म व्यतिरिक्त मिथ्यात्व ज्ञान का विषय ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के अज्ञान से भिन्न है वह उसको तो अपना विषय बनाता नहीं है। और विरोध वहीं होता है जहाँ पर ज्ञान और अज्ञान किसी एक ही वस्तु को अपना विषय बनायें। प्रपञ्च के मिथ्यात्व का ज्ञान तो प्रपञ्च के सत्यत्व रूप अज्ञान का विरोधी है। अतएव प्रपञ्च मिथ्यात्वज्ञान के द्वारा तो प्रपञ्च सत्यत्व रूप अज्ञान ही बाधित होता है, ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान तो ज्यों के त्यों बना ही रहता है।

यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि–ब्रह्म का सद्वितीयत्व ज्ञान ही ब्रह्म का स्वरूप विषयक अज्ञान है। तो वे ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि ब्रह्म व्यतिरिक्त के मिथ्यात्व ज्ञान के द्वारा ही ब्रह्म का सद्वितीयत्व ज्ञान समाप्त हो गया। (किञ्च– सद्वितीयत्व विशिष्ट ब्रह्मविषयक अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर विशेष्यांश विषयक भी ज्ञान निवृत्त हो जायेगा, फिर ब्रह्म के स्वरूप की सिद्धि कैसे होगी ? इस प्रश्न का उतर देते हुए यदि अद्वैती

विद्वान् कहें कि) ब्रह्म का स्वरूप तो अपने अनुभव से ही सिद्ध है ? तो वे ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यदि ब्रह्म का अद्वितीयत्व स्वरूप अपने अनुभव से ही सिद्ध है फिर न तो उसका विरोधी सद्वितीयत्व रूप अज्ञान हो सकता है और न तो उस अज्ञान का वाध ही हो सकता है। इस पर यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि अद्वितीयत्व ब्रह्म का धर्म है (स्वरूप नहीं) तो वे ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वे पहले प्रतिपादन कर चुके हैं कि ब्रह्म अनुभव स्वरूप है तथा उसका कोई ऐसा धर्म नहीं है जो अनुभव (ज्ञान) का विषय वने। अतएव ब्रह्म के ज्ञान स्वरूप होने के कारण वह विरोध के ही कारण अज्ञान का आश्रय नहीं वन सकता है।

तिरोधानानुपपत्ति

मूल—किञ्च— अविद्यया प्रकाशैक स्वरूपं ब्रह्म तिरोहितमिति वदता स्वरूपनाश एवोक्तस्स्यात्। प्रकाशतिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्तिप्रतिबन्धो विद्यमानस्य विनाशो वा। प्रकाशस्यानुत्पाद्यत्वाभ्युपगमेन प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश एव।

संगति—आश्रयानुपपत्ति में यह वतलाया गया है कि अविद्या का आश्रय न तो जीव हो सकता है और न ब्रह्म ही। अतएव आश्रय के अभाव में अध्यास की सिद्धि नहीं हो सकती है।

प्रस्तुत तिरोधानानुपपत्ति में यह वतलाया जा रहा है कि अद्वैती विद्वान् जो यह कहते हैं कि अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को ढँक देती है, उनका यह भी कथन उचित नहीं है। क्योंकि ब्रह्म प्रकाश स्वरूप है, उसके तिरोधान का मतलव दो ही हो सकता है। प्रकाश की उत्पत्ति का नाश अथवा प्रकाश का नाश। ब्रह्म नित्य है अतएव वह उत्पन्न तो होता नहीं अतएव उसका तिरोधान का अर्थ है प्रकाश का नाश ही। किन्तु अद्वैती विद्वान् स्वयं ऐसा नहीं स्वीकार करते हैं– अतएव अविद्या से ब्रह्म के स्वरूप का तिरोधान नहीं माना जा सकता है।

अनुवाद– किञ्च अविद्या के द्वारा प्रकाशमात्र स्वरूप ब्रह्म तिरोहित हो जाता है, यह कहने वाले अद्वैती विद्वानों के द्वारा (प्रकारान्तर से यही) कहा जाता है कि (अविद्या के द्वारा ब्रह्म के) स्वरूप का ही नाश हो जाता है। क्योंकि (ब्रह्म प्रकाश स्वरूप है) प्रकाश के तिरोधान (का दो ही अर्थ हो सकता है।) प्रकाश की उत्पत्ति का रुक जाना अथवा विद्यमान प्रकाश का नाश। (अद्वैती विद्वानों के द्वारा ब्रह्म के) स्वरूपभूत प्रकाश को उत्पाद्य नहीं स्वीकार किये जाने के कारण प्रकाश के तिरोधान का अर्थ प्रकाश का नाश ही होगा।

टिप्पणी– यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि विशिष्टाद्वैतियों के भी मत में ज्ञान स्वरूप जीवों का नित्य स्फुरण माना जाता है। ऐसी स्थिति में उनके भी मत में जीवों को

देहात्म भ्रम नहीं होना चाहिये, क्योंकि प्रकाश का तिरोधान जब उसका नाश ही हो सकता है तो फिर जीवों के स्वरूप तिरोधान भी उनके स्वरूप का नाश ही मानना होगा। और स्वरूप का हुए तिरोधान विना देहात्म भ्रम हो नहीं सकता है। तो उनका कथन इसलिए उचित नहीं है कि– विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीवों के स्वरूप का स्फुरण तो होता रहता है, उसका तिरोधान भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में नहीं माना जाता है। यही नहीं जीवों के स्वरूप का स्फुरण भी भ्रम का विरोधी नहीं है किन्तु आत्मा के जो नित्यत्व, अणुत्व, निरवयवत्व आदि धर्म हैं वही भ्रम के विरोधी हैं। और ये सभी आत्मा के धर्म का आगमगम्य हैं। अतएव इनके ज्ञान का तिरोधान होता है। क्योंकि शास्त्र ज्ञान के अभाव में अनित्यत्व स्थल सावयव आदि धर्मों से युक्त शरीर में आत्मा का भ्रम हो जाता है। ये सभी आत्मा के धर्म रूप से हमारे सिद्धान्त में स्वीकार किये जाते हैं। एतवद्विपयक ज्ञान के प्रसार का अभाव ही स्वरूप का तिरोधान है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में स्वरूपभूत ज्ञान के अतिरिक्त धर्मभूतज्ञान स्वीकार किया जाता है। अतएव उसके संकोच रूप तिरोधान के होने पर भी स्वरूप का नाश नहीं कहा जा सकता है क्योंकि स्वरूपभूत ज्ञान में तो कोई विकार हम स्वीकार नहीं करते हैं।

यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि ज्ञान आत्मा का असाधारण धर्म है, यदि उसकी स्फूर्ति होती रहती है तो फिर देहात्म भ्रम

का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, तो इसका उत्तर यह हैं कि यद्यपि ज्ञान आत्मा का असाधारण धर्म है फिर भी उसकी असाधारण धर्म रूप से स्फूर्ति नहीं होती है। और जो असाधारण रूप से प्रतीत होता है वही भ्रम का विरोधी होता है कि शुक्तित्व शुक्ति का असाधारण धर्म है उसको शुक्तित्व का ज्ञान शुक्ति में होने वाले रजत्व भ्रम का निवर्तक होता है जिसको शुक्तित्व शुक्ति के असाधारण धर्म रूप से नहीं ज्ञात है उसको शुक्ति में होने वाले रजत भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती है। चूंकि देहातिरिक्त आत्मा के असाधारण धर्म रूप से ज्ञान के ज्ञात न हो सकने के कारण देहात्म भ्रम के अनुपपत्ति नहीं सिद्ध की जा सकती हैं।

स्वरूपानुपपत्तिः

मूल—अपि च— निर्विषया निराश्रया स्वप्रकाशेयमनुभूतिः स्वाश्रयदोषवशादनन्ताश्रयमनन्तविषयमात्मानमनुभवति, इत्यत्र किमयं स्वाश्रयदोषः परमार्थभूतः ? उत अपरमार्थ भूतः ? इति विवेचनीयम्। न तावत्परमार्थः, अनभ्युपगमात्। नाप्यपरमार्थः तथा सति हि— द्रष्टृत्वेनवा, दृश्यत्वेन वा, दृशित्वेन वाभ्युपगमनीयः। न तावद् दृशिः, दृशिस्वरूपभेदानभ्युपगमात्, भ्रमाधिष्ठानभूताया-स्तु साक्षाद् दृशेर्माध्यमिक पक्ष प्रसङ्गेनापरमार्थ्यानभ्यु-

पगमाच्च । द्रष्टृदृश्ययोस्तदवच्छिन्नाया दृशेश्च काल्पनिकत्वेन मूलदोषान्तरापेक्षयाऽनवस्था स्यात् । अथैतत् परिजिहीर्षया परमार्थं सत्यनुभूतिरेव ब्रह्मरूपदोष इति चेत्, ब्रह्मैव चेद् दोषः प्रपञ्चदर्शनस्यैव तन्मूलं स्यात् । किं प्रपञ्च तुल्याविद्यान्तर परिकल्पनेन ? ब्रह्मणो दोषत्वे सति तस्यनित्यत्वेनानिर्मोक्षश्च स्यात्, अतो यावद् ब्रह्म व्यतिरिक्त पारमार्थिकदोषानभ्युपगमः न तावद् भ्रान्ति रूपपादिता भवति ।

अनुवाद– किञ्च अद्वैती विद्वान् यह कहते हैं कि– यह अनुभूति स्वयं आश्रय एवं विषय रहित है फिर भी अपने दोष के कारण अनन्त आश्रयों एवं अनन्त विषयों का अनुभव करती है । यहाँ पर यह पूछना है कि यह जो अनुभूति का आश्रय दोष है वह वास्तविक (यथार्थ) है अथवा अयथार्थ इस बात का विवेचन होना चाहिये ।

उसे यथार्थ तो इसलिये नहीं माना जा सकता हैं कि अद्वैती विद्वान् ब्रह्म को छोड़कर सम्पूर्ण जगत् को मिथ्या मानते हैं (अतएव दोष को वे वास्तविक नहीं मान सकते हैं, क्योंकि वैसा मानने पर अद्वैत भङ्ग होगा ।) उस दोष को अपरमार्थ भी नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि उसे अपरमार्थ मानने पर उसे द्रष्टा, दश्य अथवा दृशि (ज्ञान) इन तीनों में से कोई एक मानना होगा ।

(दोष के अपारमार्थिक होने के कारण उसके भ्रम होने से उसके भ्रम होने के लिये किसी दूसरे दोष की कल्पना होगी तथा उसके भी अपरमार्थिक होने के कारण तीसरे चौथे इत्यादि दोष की कल्पना के कारण अनन्तापेक्षकत्व रूप अनवस्था दोष उपर्युक्त तीनों पक्ष में समान रूप से व्याप्त है । इसके अतिरिक्त दृशित्व पक्ष में अधिक दोष है जिसे 'न तावद् दृशिः' इत्यादि वाक्य से बतलाया जा रहा है ।)

दोष को दृशि (ज्ञान) इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि अद्वैत सिद्धान्त में ज्ञान के प्रकार रूप से स्वरूप का भेद नहीं माना जाता है। किञ्च वह ज्ञान जो भ्रम का अधिष्ठान है उसे भी अयथार्थ इसलिए नहीं माना जा सकता है कि ऐसा स्वीकार करने पर तो माध्यमिक मत को ही स्वीकार करने का प्रसङ्ग होगा, और ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञातृत्वावच्छिन्न तथा ज्ञेयत्वावच्छिन्न ज्ञान के भेद को इसलिए नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि ये सभी काल्पनिक हैं, अतएव उसके मूलभूत दोषान्तर की अपेक्षा होने के कारण उसका अनवस्था दोष में अवसान होगा।

(इस तरह दोष को अपारमार्थिक मानने पर अनवस्था तथा पारमार्थिक मानने पर अद्वैत भङ्ग रूप) इन दोनो दोषों को दूर करने के लिये यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि यथार्थ सत्य ब्रह्मस्वरूप अनुभूति ही वह दोष है, तो यहाँ पर जिज्ञास्य यह है कि यदि ब्रह्म ही दोष है तो फिर प्रपञ्च दर्शन का भी वही कारण हो

जा सकता हैं, उसको छोड़कर प्रपञ्च के समान उससे भिन्न अविद्या की कल्पना करने सेक्या लाभ ? किञ्च ब्रह्म को ही दोषमान लेने पर ब्रह्म के नित्य होने के कारण कभी मोक्ष नहीं हो सकेगा। (क्योंकि मोक्ष तो तव ही संभव है जवकि दोष की निवृत्ति हो। ब्रह्म तो नित्य है, और वही दोप भी है। नित्य वस्तु की कभी निवृत्ति हो नहीं सकती है अतएव अद्वैत सिद्धान्त में अनिर्मोक्षापत्ति होगी।) अतएव जव तक ब्रह्म से भिन्न यथार्थ दोष को आप नहीं स्वीकार करते हैं तव तक आपके सिद्धान्त में भ्रम की सिद्धि नहीं हो सकती है।

टिप्पणी– अतोयावद ब्रह्म व्यतिरिक्त०इत्यादि वाक्य का आशय है कि ब्रह्म को ही दोप मानने पर अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग होगा, तथा अयथार्थ दोष को मानने पर अनवस्था नामक दोष होगा अतएव भ्रम के स्वरूप की सिद्धि तव ही संभव हो सकती है जव कि दोष को ब्रह्म से भिन्न माना जाय तथा पारमार्थिक माना जाय किन्तु ऐसा मानने में सवसे वड़ी आपत्ति है कि अद्वैत भङ्ग का प्रसङ्ग होगा।

अतएव अद्वैती विद्वानों ने अविद्या को अयथार्थ ही माना है। और उससे होने वाले अनवस्था दोष का परिहार तीन प्रकार से किया है। श्रीवाचस्पति मिश्र ने "तदधीनत्वादर्थवत्" सूत्रमें जीवाज्ञान वाद का सहारा लेते हुए वीजांकुर न्याय के प्रवाहानादित्व के माध्यम से उसका (अनवस्था का) समाधान किया है। उन्होंने कहा कि जिस तरह वीज से अंकुर और अंकुर से वीज की परम्परा

अनादि चली आ रही हैं उसी तरह से अविद्या से जीव एवं जीवों से अविद्या की अनादि कालिक परम्परा चली आ रही हैं।

जीवाज्ञानवाद का खण्डन करते हुए ब्रह्माज्ञानवादी अद्वैती विद्वान् स्वरूपानादित्व के माध्यम से उक्त अनवस्था दोष का परिहार करते हैं। उनका कथन है कि अनादि अयथार्थ अविद्या के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का तिरोधान अनादि काल से हो गया है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि अयथार्थ अविद्या के द्वारा सत्य ब्रह्म का स्वरूप तिरोहित होना कैसे संभव है ? तो इसका उत्तर देते हुए अद्वैती विद्वानों ने यह कहा कि यद्यपि अयथार्थ अविद्या न तो ब्रह्म के स्वरूप को तिरोहित कर सकती है और न तो सत्य ब्रह्म के स्वरूप का तिरोधान ही संभव है फिर भी यह होता है, यही तो अविद्या की विचित्रता है।

अद्वैती विद्वानों के इस कथन का उत्तर देते हुए विशिष्टाद्वैती विद्वान् कहते हैं कि जीवाज्ञानवाद का खण्डन तो ब्रह्माज्ञानवादी अद्वैती विद्वान् कर चुके हैं अतएव उसका खण्डन कोई यहाँ अपेक्षित नहीं है। किञ्च ब्रह्माज्ञान वादियों से पूछना यह है कि यदि अविद्या का दुर्घटत्व स्वभाव है तो फिर वह अविद्या मुक्तजीव एवं पर ब्रह्म को भी अपना आश्रय क्यों नहीं वनाती। यदि कहें कि ब्रह्म का स्वभाव शुद्ध है और अविद्या अशुद्ध है, अतएव दोनों का आश्रयाश्रयीभाव उपपन्न नहीं हो सकता है तो यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अविद्या का जब दुर्घट स्वभाव है तो फिर उसे किसी उपपत्ति एवं और अनुपपत्ति की क्या

परवाह है । किञ्च ब्रह्माज्ञानवादियों के मत में तो मोक्ष में भी अविद्या को ब्रह्म को अपना आश्रय बनाकर भ्रमोत्पादन का कार्य करना चाहिये। यदि आप यह कहें कि बाधक के सन्निकट में बाध्य की उपपत्ति सिद्ध हो ही नहीं सकती है तो यह कहना उचित भी नहीं है। क्योंकि अद्वैत मतानुसार तो उपपत्तिमत्व का अभाव अविद्या के लिये भूषण ही है दूषण नहीं। इस तरह अद्वैती विद्वान् अयथार्थं अविद्या को भ्रम की सिद्धि का जो साधन मानते हैं वह उचित नहीं।

* अनिवर्चनीयानुपत्ति *

मूल—अनिर्वचनीयत्वञ्च किमभिप्रेतम् ? सदसद्विलक्षणत्व मिति चेत्, तथाविधस्य वस्तुनः प्रमाणशून्यत्वेन निर्वचनीयतैव स्यात्। एतदुक्तं भवति— सर्वं हि वस्तुजातं प्रतीतिव्यवस्थाप्यम्। सर्वा च प्रतीतिः सदाकारा। सदसदाकारायास्तु प्रतीतेः सदसद्विलक्षणं विषयः इत्यभ्युपगम्यमाने सर्वं सर्वप्रतीतेर्विषयः स्यात् इति।

(किञ्च अद्वैतीं विद्वान् यह जो कहते हैं कि अविद्या सदसद् अनिर्वचनीय है। तो मैं यहाँ पर यह जानना चाहता हूँ कि उनके मत में) अनिर्वचनीयता का क्या स्वरूप है ? सत् एवं असत् से भिन्नता को वे यदि अनिर्वचनीय मानते हों तो (यहाँ पर मेरा कहना है कि) सत् एवं असत् से भिन्न वस्तु के प्रमाण रहित

होने के कारण कोई अनिर्वचनीय वस्तु होती है यह नहीं कहा जा सकता है।

कहने का आशय है कि– संसार की सारी वस्तुओं की व्यवस्था प्रतीति के अनुसार की जाती है। और जितनी भी प्रतीतियाँ (वस्तुओं का ज्ञान) होती हैं वे दो ही प्रकार की होती हैं। सत् एवं असत्। सत् एवं असत् इन दो अकारों वाली प्रतीति का भी विषय यदि सत् एवं असत् से विलक्षण वस्तु हो जाती हैं यह यदि माना जाय तो फिर सभी प्रकार की तियों के विषय सभी प्रकार के वस्तु बनने लग जायेंगी।

टिप्पणी– 'सर्वं सर्वं प्रतीतेर्विषयः स्यात्'। इस वाक्य का अभिप्राय है कि सदसद् विलक्षण जो ज्ञान होगा उसका भी विषय सद्सद् ही वस्तु होने लगेगी। क्योंकि प्रतीति के अनुसार ही नीले-पीले वर्णवाले वस्तुओं की व्यवस्था की जाती है। अतएव सत् असत् आकार वाली प्रतीति का विषय भी सत् एवं असत् वस्तुओं को ही मानना चाहिये, सत् एवं असत् से विलक्षण वस्तु को नहीं। इसीलिए ख्यातिविवेक में कहा गया है कि–प्रतीति का भिन्नाकारत्वेन प्रतीयमान वस्तु विषय नहीं बन सकता है क्योंकि विषयों की व्यवस्था प्रतीति के अनुकूल ही की जाती है।

यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो सत् एवं असत् इन दोनों प्रकार के आकारों से युक्त हो। तो मैं यहाँ पर यह कहता हूँ कि किसी एक वस्तु को सद् असद् विलक्षण मानना भी व्याप्ति के विपरीत है। सत् वस्तु

असत् विलक्ष हो सकती है किन्तु एक ही वस्तु सत् असत् विलक्षण हो ऐसा कहीं नहीं देखा गया है।

किञ्च– सदसद् विलक्षणता कहीं भी नहीं देखी गयी है और सदसदात्मकता तो देखी गयी है। परमाचार्य श्रीयामुनाचार्य स्वामी श्री संवित् सिद्धि नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि– अद्वैती विद्वानों का यह कहना कि– जगत् को सत् इसलिऐ नहीं माना जा सकता है कि उसका बाध होता है और असत् उसे इसलिए नही कहा जा सकता है कि उसकी प्रतीति होती है, क्योंकि नियम है कि असत् वस्तु की प्रतीति नहीं होती है तथा सत् वस्तु का कभी बाध नहीं होता है–यह उचित नहीं है। चूँकि जगत् की प्रतीति होती है अतएव वह सत् स्वरूप है और उसका बाध होता है अतएव वह असत् स्वरूप भी है।

नासत् प्रतीतेर्बाधाच्च न सदित्यपि यन्न तत्।
प्रतीतेरेव सत्किन्न बाधान्नासत् कुतो जगत्॥

कहने का आशय है कि कोई वस्तु सत् अथवा असत् ही हो सकती है सदसद्विलक्षण नहीं।

यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि सत् सत्ता सम्पन्न घट, सदसद्विलक्षण है तो फिर उनके मत में सत्ता सम्पन्न ब्रह्म भी सदसद्विलक्षण सिद्ध होने लगेगा। अतएव कोई भी वस्तु सदसद्विलक्षण नहीं सिद्ध हो सकती है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अविद्या सदसद्विलक्षण है यह कहना उचित नहीं है।

—* प्रमाणानुपपत्ति *—

-※※-

मू०—अथ स्यात्—वस्तु स्वरूपतिरोधानकरमान्तरबाह्यरूप-विविधाध्यासोपादानं सद्सदनर्वचनीयमविद्याज्ञानादिपद वाच्यं वस्तु याथात्म्यज्ञाननिवर्त्यं ज्ञान प्रागभावाति-रेकेण भावरूपमेवं किञ्चिद्वस्तु प्रत्यक्षानुमानाभ्यां-प्रतीयते । तदुपहितं ब्रह्मोपादानश्चाविकारे स्वप्रकाश-चिन्मात्रवपुषि तेनैव तिरोहितस्वरूपे प्रत्यगात्मन्यहङ्कार ज्ञानज्ञेय विभागरूपोऽध्यासः । तस्यैवावस्थाविशेषेणा-ध्यासरूपे जगति ज्ञानवाध्य सर्परजतादिवस्तु तत्तज्ज्ञान रूपाध्यासोऽपि जायते । कृत्स्नस्य मिथ्यारूपस्य तदु-पादानत्वं च मिथ्याभूतस्यार्थस्य मिथ्याभूतमेवकारणं भवितुमर्हतीति हेतुबलादवगम्यते ।

ग्रन्थ संगति—ऊपर यह वतलाया गयाहै कि अज्ञानके अनिर्वचनी-यत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है । इस पर अद्वैती विद्वानों का कहना है कि अविद्या एक प्रमाण सिद्ध पदार्थ है । अतएव केवल तर्कों के आधार पर उसका वाध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रमाण सिद्ध वस्तु का तर्क से वाध नहीं होता है यह 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' यह न्याय वतलाता । वह अज्ञान प्रमा-णिक है इस अर्थ का प्रतिपादन अद्वैती विद्वान् जिस ढंग से करते हैं उसका अनुवाद अथ स्यात्—इत्यादि ग्रन्थ से किया गया है ।

अनुवाद– यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि–प्रत्यक्ष एवं अनुमान इन दो प्रमाणों के द्वारा ज्ञात होता है कि वस्तु के स्वरूप को छिपा देने वाला; आभ्यन्तर एवं वाह्य रूप अनेक प्रकार के सभी अध्यासों का उपादान कारण, सत् एवं असत् (इन दोनों में से किसी भी शब्द के द्वारा जिसका निर्वचन नहीं हो सकता अतएव) अनिर्वचनीय कोई वस्तु है, जो अविद्या, अज्ञान इत्यादि शब्दों से कहा जाता है, जिसको निवृत्ति वस्तु के वास्तविक–स्वरूप के ज्ञान द्वारा होती है, तथा जो ज्ञान के प्रागभाव रूप होने के कारण भावपदार्थ ही है। निर्विकार, स्वयं प्रकाश चैतन्यमात्र ब्रह्म जव उस अविद्या से उपहित होता है उसी समय आत्मा में हम, हमारा, इत्याकारक अहंकार तथा ज्ञान, ज्ञेयादि विभाग रूप अध्यास होता है। इस अध्यास का उपादान (मूल) कारण अज्ञानोपहितब्रह्म है। उस अध्यास का ही अवस्था विशेष इस अध्यासमय जगत् में भी ज्ञान के द्वारा वाधित होने वाले सर्प रजत आदि वस्तुओं तथा उनके ज्ञान रूप अध्यास विशेष हुआ करते हैं। इस सम्पूर्ण मिथ्या जगत् का उपादान कारण मिथ्या अज्ञान ही है; यह मिथ्या वस्तु का उपादान कारण मिथ्या ही वस्तु हो सकती है, कारण कार्य की सजातीयता दर्शन के द्वारा ज्ञात होता है। (जिस तरह स्वर्ण कुण्डल का कारण स्वर्ण होता है उसी तरह मिथ्या जगत् का उपादान कारण मिथ्या अज्ञान ही हो सकता है।)

मूल—कारणाज्ञानविषयं प्रत्यक्षं तावत् 'अहमज्ञो', 'मामन्यं च न जानामीत्य परोक्षावभासः । अयं तु न ज्ञान प्रागभावविषयः स हि षष्ठप्रमाणगोचरः, अयं तु अहं सुखीतिवदपरोक्षः अभावस्य प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमेऽप्ययमनुभवो नात्मज्ञानाभावविषयः, अनुभववेलायामपि ज्ञानस्य विद्यमानत्वात्, अविद्यमानत्वे ज्ञानाभावप्रतीत्यनुपपत्तेश्च । एददुक्तं भवति—अहमज्ञ इत्यस्मिन्ननुभवे अहमित्यात्मनोऽभावधर्मितया ज्ञानस्य च प्रतियोगितया ऽवगतिरस्ति वा ? न वा ? अस्ति चेद्विरोधादेव न ज्ञानाभावानुभवसंभवः । नो चेद्धर्मिप्रतियोगिज्ञानसव्यपेक्षो ज्ञानाभावानुभवः सुतरां न सम्भवति । ज्ञानाभावस्यानुमेयत्वे अभावाख्य प्रमाणविषयत्वे चेयमनुपपत्तिः समाना । अस्याज्ञानस्य भावरूपत्वे धर्मिप्रतियोगिज्ञानसद्भावेऽपि विरोधाभावादयमनुभवो भावरूपाज्ञानविषय एवाभ्युपगन्तव्य इति ।

ननु च भावरूपमज्ञानं वस्तुयाथात्म्यावभासरूपेण साक्षिचैतन्येन विरुध्यते । मैवम्—साक्षिचैतन्यं न वस्तुयाथात्म्यविषयम्, अपि त्वज्ञानविषयम्, अन्यथामिथ्यार्थावभासानुपपत्तेः, नह्यज्ञानविषयेण ज्ञानेनाज्ञानं निवर्तत इति न विरोधः ।

अनु०-(सुषुप्तावस्था में रहने वाला जो कारणभूत अज्ञान है) यह अज्ञान (आभ्यन्तर) प्रत्यक्ष का विषय बनता है उस

अज्ञान का प्रत्यक्ष 'मैं अज्ञ हूँ, यहाँ तक कि न तो मैं अपने को जानता हूँ और न तो अपने से भिन्न को' इस रूप से होता है। (यहाँ पर यदि विशिष्टाद्वैती विद्वान् यह कहें कि अज्ञान को ज्ञान का प्रागभाव रूप क्यों न मान लिया जाय ? उसे भावरूप मानने की क्या आवश्यकता है ? तो यह कहना उचित नहीं है।) यह अज्ञान तो ज्ञान के प्रागभाव का विषय नहीं बन सकता है, क्योंकि अभाव का ज्ञान छठे अनुपलब्धि नामक प्रमाण से होता है। और इस अज्ञान का साक्षात्कार उसी तरह से होता है जिस तरह 'मैं सुखी हूँ' यह सुख का प्रत्यक्ष होता है। अभाव का यदि प्रत्यक्ष स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी प्रत्यक्ष आत्मा के अज्ञान को अपना विषय नहीं बना सकता है क्योंकि जिस समय आत्मा के अज्ञान का अनुभव (प्रत्यक्ष) किया जाता है उस समय में भी अज्ञान को अपना विषय बनाने वाला अज्ञान तो विद्यमान ही रहेगा। क्योंकि यदि उस समय में ज्ञान न रहे तो फिर ज्ञान के अभाव की प्रतीति ही नहीं हो सकती है।

कहने का आशय है कि—जिस समय 'मैं अज्ञ हूँ' इस रूप से प्रत्यक्ष होगा उस समय आत्मा की अभाव के धर्मी रूप से तथा अज्ञान की उस अभाव के प्रतियोगी रूप से प्रतीति होगी अथवा नहीं ? यदि कहें कि उक्त प्रकार की प्रतीति होगी तो फिर विरोध के ही कारण ज्ञान के अभाव का अनुभव संभव नहीं हो सकेगा। (क्योंकि जहाँ ज्ञान होगा वहाँ पर उसका

अभाव रह ही नहीं सकता है। अतएव ज्ञान का विषय- ज्ञान का अभाव नहीं वन सकता है।) यदि कहें कि प्रत्यक्षकाल में मैं इस रूप से आत्मा की अभाव के धर्मी रूप से तथा अज्ञान की उस अभाव के प्रतियोगी रूप से प्रतीति होती ही नहीं है। तो इसके उत्तर में हमारा यह कहना है कि कोई भी अभाव का प्रत्यक्ष धर्मी एवं प्रतियोगी के ज्ञान सापेक्ष होता है, अतएव उक्त परिस्थिति में ज्ञान के अभाव का प्रत्यक्ष संभव ही नहीं है। (यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि यद्यपि ज्ञान का अभाव प्रत्यक्ष का विषय नहीं वन सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा वर्तमान वस्तु का ही ग्रहण होता है फिर भी अनुमानादि का तो यह विषय वन ही सकता है। तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता) ज्ञानाभाव को अनुमान और अनुपलब्धि प्रमाण का विषय मानने पर भी उपर्युक्त असंगति समान रूप से ही वनी रहेगी। (क्योंकि प्रमाणान्तरों का यद्यपि वर्तमान ही विषयों के ग्रहण का नियम नहीं है फिर भी अनुमानादि के द्वारा अविद्यमान वस्तु को विद्यमान् रूप से दिखाया नहीं जा सकता है और 'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि प्रतीतियों में अज्ञान वर्तमान रूप से ही प्रतीत होता है। अतएव अज्ञान के अनुमेयत्व मात्र से उसके प्रत्यक्ष का विरोध कैसे संभव है ?) और इस अज्ञान को भाव पदार्थ स्वीकार करने पर धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान रहने पर भी (चूंकि उसका भाव रूप अज्ञान से विरोध नहीं होता क्योंकि लोक में देखा जाता है कि घट विषयक अज्ञान का घट

विषयक ज्ञान से ही विरोध होता है घट ज्ञान विषयक ज्ञान अथवा घट ज्ञातृ विषयक ज्ञान से उसका कोई विरोध नहीं होता है ।) अतएव 'मैं अज्ञ हूँ' यह प्रत्यक्ष भावरूप अज्ञान को ही अपना विषय बनाता है; यह स्वीकार करना चाहिये ।

यदि यहाँ पर कोई यह कहे कि भावरूप अज्ञान का भी वस्तु की वास्तविक प्रतीति साक्षिचैतन्य से विरोध होता है । (कहने का आशय है कि अज्ञान के वस्तुयाथात्म्यज्ञान निवर्त्य होने के कारण उसका वस्तुयाथात्म्य प्रतीति रूप साक्षिचैतन्य से विरोध होगा । यद्यपि दोनों भाव पदार्थ हैं फिर भी दोनों का एकत्रित होना उसी तरह विरुद्ध है जिस तरह अन्धकार और प्रकाश एकत्रित नहीं होते ।) तो इस प्रकार की शंका करना उचित नहीं है– क्योंकि साक्षिचैतन्य वस्तु के वास्तविक स्वरूप को अपना विषय नहीं बनाता है (क्योंकि हमारे अद्वैत सिद्धान्त में वस्तु का वास्तविक स्वरूप तो शुद्ध-बुद्ध चिन्मात्र सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य माना जाता है ।) बल्कि साक्षिचैतन्य अज्ञान (मिथ्या प्रपञ्च) को ही अपना विषय बनाता है । यदि ऐसा नहीं माना जाय तो फिर उसके द्वारा मिथ्या जगत्(प्रपञ्च)की प्रतीति कैसे संभव होगी । चूँकि देखा जाता है कि अज्ञान को अपना विषय बनाने वाले ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है अतएव साक्षिचैतन्य का भावरूप अज्ञान से कोई विरोध नहीं है ।

टिप्पणी—वस्तुस्वरूपतिरोधान करम्—इत्यादि वाक्य के द्वारा अद्वैत सिद्धान्तानुसार अज्ञान का स्वरूप उपस्थित किया गया है। अद्वैत सिद्धान्त में अज्ञान की दो शक्तियाँ स्वीकार की जाती हैं। वह हैं- आवरण और विक्षेप। अज्ञान अपनी आवरण शक्ति के द्वारा वस्तु के स्वरूप को तिरोहित कर देता है और वह अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा धर्मी में अन्य धर्म की प्रतीति रूप अनेक प्रकार के विक्षेपों को पैदा कर देता है। रज्जु सर्प स्थल में अन्धकार अपनी आवरण शक्ति के द्वारा ररसी के स्वरूप को ढँककर अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा उसमें सर्प आदि (भूदलन, जलरेखा) की प्रतीति कराने लगता है। उस अज्ञान की चूँकि ख्याति (प्रतीति) होतो है अतएव यह असत् नहीं कहा जा सकता है और चूँकि उसका वाध भी होता है अतएव 'वह सत् भी नहीं कहा जा सकता है। अतएव वह सदसद्विलक्षण है। प्रश्न यह उठता है कि अज्ञान भाव पदार्थ है कि अभाव पदार्थ है ? इसका उत्तर देते हुए अद्वैती विद्वानों का कहना है कि चूँकि अज्ञान की सर्वत्र 'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि रूप से प्रत्यक्ष प्रतीति ही होती है, और अभाव पदार्थ का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। अतएव अज्ञान को भाव पदार्थ ही मानना चाहिये।

मूल—ननु चेदं भावरूपाज्ञानं विषयविशेषव्यावृत्तमेव साक्षि चैतन्यस्य विषयो भवति। सर्वविषयः प्रमाणानधीन सिद्धिरिति कथमिवसाक्षिचैतन्येनास्मदर्थं व्यावृत्तम

ज्ञानं विषयो क्रियते ? नैष दोषः— सर्वमेव वस्तुजातं ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषयभूतम्। तत्र जडत्वेन ज्ञाततया सिध्यत एव प्रमाण व्यवधानापेक्षा अजडस्यतु प्रत्यग्वस्तुनः स्वयं सिध्यतो न प्रमाण व्यवधानापेक्षेति सदैवाज्ञानस्य व्यावर्तकत्वेनावभासो युज्यते, तस्मान्न्यायोपबृंहितेन प्रत्यक्षेण भावरूपमेवाज्ञानं प्रतीयते। तदिदं भावरूपमज्ञानमनुमानेनापि विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानम् एव। प्रगभावव्यतिरिक्त स्वविषयावरण स्वनिवर्त्य स्वदेशगतवस्त्वन्तर पूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्न प्रदीप प्रभावदिति।

अनुवाद– यहां पर प्रश्न यह उठता है कि यह भावरूप अज्ञान विषय विशेष से व्यावृत होकर ही साक्षिचैतन्य का विषय वनता है। उस विषय की सिद्धि (प्रकाश) किसी प्रमाण के अधीन नहीं होती है। अतएव कैसे कहा जा सकता है कि साक्षि चैतन्य अस्मदर्थं भिन्न अज्ञान को अपना विषय बनाता है ? तो यह कोइ दोष वह नहीं है। क्योंकि जितने वस्तु समूह हैं वे चाहे तो ज्ञात रूप से अथवा अज्ञात रूप से साक्षिचैतन्य के विषय वनते हैं। उनमें जो वस्तु जड रूप से ज्ञात होती हुई

प्रकाशित होती है उसे ही अपनी सिद्धि के लिएं प्रमाण की अपेक्षा होती है और स्वयं प्रकाश अजड वस्तु आत्मा को तो अपने प्रकाशन के लिए प्रमाण रूपी व्यवधान की अपेक्षा नहीं होती है। अतएव अज्ञान की सर्वदा ही भेदक रूप से प्रतीति होना उचित है। अतएव विरोध रहित न्यायानुगृहीत प्रत्यक्ष के द्वारा भावरूप ही अज्ञान प्रतीत होता है। और यह प्रसिद्ध अज्ञान भाव पदार्थ रूप से अनुमान के द्वारा भी सिद्ध होता है। (वह अनुमान इस प्रकार से होगा 'विवादास्पद प्रमाण समुत्पादित ज्ञान अपने प्रागभाव से भिन्न, अपने ज्ञान के विषय को आवृत्त कर देने वाले,तथा अपने ही द्वारा निवृत्त किये जाने योग्य, वस्त्वन्तर (अज्ञान) पूर्वक होता है। क्योंकि वह अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक होता है। अन्धकार में प्रथम उत्पन्न प्रदीप-प्रभा के समान।

टिप्पणी— ननु चेदं भावरूपमज्ञानम्—इत्यादि वाक्य के द्वारा शंका की गयी है कि अज्ञान का व्यावर्तक (भेदक) जो विषय है उसकी प्रतीति साक्षिचैतन्य के द्वारा होती है यह कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि विषयों का प्रकाश तो प्रमाणों के अधीन होता है। तो इसका उत्तर देते हुए अद्वैती विद्वानों का कहना है कि सारी वस्तुएं ज्ञात या अज्ञात रूप से साक्षिचैतन्य के ही विषय हैं। हाँ, उनमें जो वस्तु ज्ञात रूप से साक्षिचैतन्य के विषय बनते हैं उन्हें प्रमाण की अपेक्षा होती है और जो वस्तु ज्ञात रूप से साक्षिचैतन्य के विषय नहीं बनते हैं उनकी सामान्य

रूप से अथवा विशेष रूप ज्ञान के व्यावर्त्य के कारण की सदा प्रतोति होती रहती है, यह पञ्चपादिका के विवरण ग्रन्थ में लिखा हुआ है।

विवादाध्यासितम्–इत्यादि अनुमान का अभिप्राय है कि जो प्रमाण समुत्पादित ज्ञान होता है, उसके लिये मानना होगा कि उसके पहले कोई एक ऐसी वस्तु थी जो उस ज्ञान के प्रागभाव से भिन्न थी, और उस ज्ञान के विषय के स्वरूप को आवृत किये हुये थी, तथा जिस देश में ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसी देश में थी; जिसकी ज्ञानोत्पत्ति के द्वारा निवृत्ति हो जाती है। ऐसा इसलिये माना जाता है कि ज्ञान जो होता है वह पहले से अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशन किया करता है! वह ज्ञान का विषय तो पहले से रहता है किन्तु उस विषय को अज्ञान पहले आवृत्त किये रहता है। उस वस्तु विषयक जव उस विषय देश में ज्ञान उत्पन्न होता है तो फिर वह अज्ञान निवृत्त हो जाता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि वह अज्ञान ज्ञान का प्राग-भाव रूप है, क्योंकि अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं संभव है, यह ऊपर कहा जा चुका है। अतएव अज्ञान को भाव पदार्थ ही मानना चाहिये क्योंकि वह ज्ञान का विरोधी और ज्ञान निवर्त्य होता है।

जिस तरह अन्धकार में जव प्रदीप की पहली प्रभा उत्पन्न होती है तो वह अन्धकाराछन्न सभी वस्तुओं को प्रकाशित कर देती है, और उस स्थान में पहले से ही विद्यमान अन्धकार जो

प्रभा का विरोधी तथा प्रभा के द्वारा निर्वत्य है,उसको निवर्तित कर देती है।

—* अन्धकार का द्रव्यत्वसमर्थन *—

मू०—आलोकाभावमात्रं वा रूपदर्शनाभावमात्रं वा तमो न द्रव्यान्तरम्, तत्कथं भावरूपाज्ञानसाधने निदर्शनतयोपन्यस्यत इति चेत् उच्यते—बहुलत्व विरलत्वाद्यवस्थायोगेन रूपवत्तयाचोपलब्धे द्रव्यान्तरमेव तमः इति निरवद्यम्—इति ॥

अनुवाद–(उपर्युक्त अनुमान के विषय में यदि कोई यह शंका करे कि–) अन्धकार तो प्रकाश का अभाव मात्रहै अथवा रूप दर्शन के अभाव मात्र को अन्धकार कहते हैं, अतएव उसको द्रव्यान्तर नहीं माना जा सकता है। अतएव भावरूप अज्ञान की सिद्धि करने के प्रसङ्ग में आप अज्ञान को कैसे द्रव्यान्तर रूप से उद्धृत कर रहे हैं। तो इसका उत्तर है कि– अन्धकार को द्रव्यान्तर (दशवाँ द्रव्य) मानना ही चाहिये; क्योंकि (जिस तरह अन्य द्रव्यों का पर एवं अपर विभागरूप अवस्था से योग होता है उसी तरह) अन्धकार की भी बहुलत्व, विरलत्व आदि अवस्थायें होती हैं। किञ्च (जिस तरह पृथिवी आदि द्रव्यों में रूप आदि गुण होते हैं उसी तरह) अन्धकार में (नील) रूप पाया जाता है। अतएव उसका द्रव्यान्तरत्व स्वीकार करना ही चाहिये। इसमें कोई दोष नहीं।

टिप्पणी– अज्ञान के भावरूपत्व समर्थन के प्रसङ्ग में अद्वैती विद्वानों ने दृष्टान्तवाक्य के रूप में 'अन्धकारे प्रथमोत्पन्न प्रदीप प्रभावत्' यह वाक्य उपन्यस्त किया है। यहाँ पर यह वतलाया गया है कि जिस तरह अन्धकार प्रकाश के द्वारा निवर्तित होता है उसी तरह अज्ञान ज्ञान के द्वारा निवर्तित हो जाता है। किञ्च जिस तरह अन्धकार प्रकाश विरोधी द्रव्यान्तर है, उसी तरह अज्ञान भी ज्ञान विरोधी द्रव्यान्तर है।

इस पर नैयायिकों का कहना है कि द्रव्य के प्रकरण में तो पृथिवी आदि ही द्रव्य कहे गये हैं, यह तम नामक द्रव्य कौन सा द्रव्य है ? इसको द्रव्यान्तर सिद्ध भी नहीं किया जा सकता है क्योंकि तमस् को द्रव्यान्तर मानने में कारकानुपपत्ति एवं ज्ञापकानुपपत्ति होगी। क्योंकि रूपवान् होने पर भी परमाणु ही अनुत्पाद्य है तमस् तो उत्पाद्य है, वह रूपवान् होने के साथ साथ वृहदाकार सम्पन्न है। और जो-जो रूपवान् होनेके साथ-साथ महदाकार सम्पन्न होता है वह-वह कार्य होता है। अव प्रश्न यह उठता है कि तमस् का उत्पादक कौन है ? नीरूपवायु आकाश आदि तो अन्धकार के उत्पादक हो नहीं सकते हैं क्योंकि अन्धकार रूपवान् है। किञ्च अन्धकार में स्पर्श, रस, गन्ध आदि गुण भी नहीं पाये जाते हैं अतएव अन्य द्रव्य भी उसके उत्पादक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि नियम है कि "कारणगुणाः कार्यगुणाना-रभन्ते" अर्थात् कारण के गुण कार्य में अवश्य पाये जाते हैं।

अतएव दीप के बुझा दिये जाने पर कमरे में व्याप्त अन्धकार का जनक कौन होगा ? इस तरह अन्धकार को द्रव्यान्तर मानने में कारकानुपपत्ति होगी।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि अन्धकार का ग्राहक साधन कौन है ?चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा उसका ग्रहण हो नहीं सकता है। क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय प्रकाश के विना किसी रूपका ग्रहण कर नहीं पाती है। और जहाँ प्रकाश रहता है वहाँ अन्धकार रहता ही नहीं। यदि पूछें कि तो फिर अन्धकार के रूप का ग्रहण कैसे होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि अन्धकार के रूप का ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा नहीं होता है, वल्कि उसके रूप ग्रहण की भ्रान्ति होती है। यह भ्रान्ति उसी तरह की है जिस तरह आँख वन्द कर लेने पर नील रूप की भ्रान्ति होती है। अतएव अन्धकार के द्रव्यान्तरत्व स्वीकार करने में ज्ञापकानुपपत्ति होती है।

अन्धकार के दशम द्रव्यत्व की सिद्धि करते हुए वार्तिककार कहते हैं–

"तमः खलु चलं नीलं परापर विभागवत्।
प्रसिद्ध धर्मवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति ॥"

अर्थात् निःसन्देह ही तमोद्रव्य वैशेषिकाभिमत द्रव्यनवत्व की संख्या को पारकर दशवाँ द्रव्य वन सकता है, क्योंकि द्रव्य सामान्य का लक्षण है अवस्था श्रयत्व रूप ही। तमोद्रव्य की भी वहुलत्व विरलत्व आदि अवस्थाएँ होती हैं, अतएव वह द्रव्य

होने के योग्य है। किञ्च द्रव्य गुणाश्रय होता है तमोद्रव्य भी नीलरूप और चलन क्रिया का आश्रय है। यदि कहा जाय कि तमोद्रव्य का प्रसिद्ध नव द्रव्यों में ही अन्तर्भाव क्यों न कर लिया जाय तो इसका उत्तर यह है कि तमो द्रव्य का द्रव्यान्तरों में इसलिए अन्तर्भाव नहीं हो सकता है कि उसमें स्वेतर समस्त द्रव्यों में अप्राप्य असाधारण धर्म तमस्त्व विद्यमान् है। अतएव तमोद्रव्य को दशवाँ द्रव्य मानना ही होगा। क्योंकि द्रव्यों पृथिवी आदि द्रव्यों की नव संख्या इसलिए मानी जाती है कि उनमें अपने भेदक धर्म का वैधर्म्य है। अन्यथा पृथिवी यह एक ही द्रव्य होता। इसी तरह भेदक धर्म वैधर्म्य के कारण दशवें तमोद्रव्य को स्वीकार करना चाहिये।

अब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि उत्पादकत्वानुपपत्ति एवं ग्राहकत्वानुपपत्ति का क्या परिहार होगा ? तो ग्राहकत्वानुपपत्तिका परिहार करते हुए विवरणकार आदि का कहना है कि जिस तरह कानों के छिद्र को बन्द कर लेने पर कान आभ्यन्तर शब्दों को ग्रहण कर लेते हैं, जिसके कारण कानों को बन्द कर लेने पर भी एक प्रकार का शब्द सुनाई पड़ता है, उसी तरह आँखों के बन्द कर लेने पर भी चक्षुरिन्द्रिय आभ्यन्तर अक्षिगोलक के अन्धकार को ग्रहण कर लेती है। अतएव आँखों के बन्द कर लेने पर भी प्रतीयमान अन्धकार की प्रमा ही होती है। और आँखें खोलने पर आखें बाह्य अन्धकार को ग्रहण करती हैं। अतः अन्धकार के विषय में ग्राहकत्वानुपपत्ति नहीं बतायी जा सकती है।

श्री श्रुतप्रकाशिका कारको विवरणकार का यह उत्तर पसन्द नहीं है क्योंकि आखें आाभ्यन्तर अन्धकार को ग्रहण करती हैं, यह कहना लोक विरुद्ध है अतएव ये मानते हैं कि आखें वन्द करने पर प्रतीयमान नील प्रतीति भ्रम है, क्योंकि वह वाधित विषय है। यदि वह नील प्रतीति प्रमा होती तो आँखें खोलने पर भी वह आवश्य प्रतीति होती। चूँकि नहीं होती है, अतएव भ्रम ही वह है। किन्तु अन्धकार के रूप ग्रह का तो तत्काल एवं तद्देश में वाध होता नहीं है अतएव उसे तो प्रमा ही मानना चाहिए।

यहाँ पर यदि नैयायिक विद्वान् कहें कि यदि अन्धकार में रूप की उपलब्धि होती तो जिस समय अन्य रूपों की उपलब्धि होती, है उस समय भी अन्धकार में रूप की उपलब्धि होती चूकि नहीं होती है अतएव तमो द्रव्य (अन्धकार) के रूप प्रत्यक्ष को नही मानना चाहिये। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। जैसे जिस प्रकार उल्लू आदि को हम लोगों के रूप का प्रत्यक्ष होता है, उस समय हम लोगों को रूपोपलब्धि नहीं होती है, एतावता उलूकादि के रूपोपलब्धि को भ्रम नहीं माना जा सकता है और जिस समय हम लोगों को रूपादिका प्रत्यक्ष होता है उस समय उलूकादि को रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता है, फिर भी अस्मदादि के प्रत्यक्ष को भ्रम नहीं माना जाता है। उसी तरह अन्य घटादिक के रूपोपलब्धि काल में तमोद्रव्य के रूपोपलब्धि के नहीं होने मात्र से अन्धकार के रूपोपलब्धि को भ्रम नहीं माना जा सकता है। किञ्च- वेदों में 'यस्य तमः शरीरम्' आदि श्रुतियाँ तमो द्रव्य

को परं ब्रह्म का शरीर बतलाकर उसे शरीवत् रूपवान् बतलाती हैं। अतएव तमो द्रव्य में ग्राहकत्वानुपपत्ति नहीं बतायी जा सकती है।

अब रही उत्पादकत्वानुपपत्ति की बात तो आगम ग्रन्थों में उसकी सृष्टि परमात्मा से बतलायी गयी है। मनुस्मृतिकार कहते हैं— 'तमः ससर्ज भगवान्' अर्थात् तमोद्रव्य की सृष्टि भगवान् ने की। किञ्च तमोद्रव्य रूप कार्य को देखकर उसके कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए। आकाश को ही स्वच्छ तमोद्रव्य का कारण मानकर पञ्चीकरण प्रक्रिया के अनुसार उसमें रूप की सत्ता स्वीकार कर लेनी चाहिए। अथवा रूपवान् तेजो द्रव्य को तमोद्रव्य का कारण मानकर स्वच्छ द्रव्य होने के कारण उसमें स्पर्श का अभाव मान लेना चाहिये। श्रीभाष्यकार को भी तमस् का द्रव्यत्व अभिप्रेत है, क्योंकि उन्होंने कहीं भी तमोद्रव्य का खण्डन नहीं किया है।

इन सभी अर्थों का संग्रह करके श्री सुदर्शन सूरि निम्न प्रकार की कारिका लिखते हैं—

तमो नाम द्रव्यं, बहुल विरलं मेचकचलं
प्रतीतं केनाऽपि क्वचिदपि न बाधश्च ददृशे।
अतः कल्प्यो हेतुः प्रमितिरपि शाब्दी विजयते
निरालोकं चक्षुः प्रथयतिहि तद् दर्शनवशात्।

* अविद्या के प्रत्यक्ष का खण्डन *

मूल—अत्रोच्यते—'अहमज्ञो' 'मामन्यं च न जानामि' इत्यत्रोपपत्तिसहितेन केवलेन च प्रत्यक्षेण न भावरूपमज्ञानं

प्रतीयते । यत्तु ज्ञान प्रागभाव विषयत्वे विरोध उक्तः, सहि भावरूपाज्ञानेऽपि तुल्यः । विषयत्वेनाश्रयत्वेनचाज्ञानस्य व्यावर्तकतया प्रत्यगर्थः प्रतिपन्नो वा ? अप्रतिपन्नो वा ? प्रतिपन्नश्चेत्, तत्स्वरूपज्ञाननिवर्त्यं तदज्ञानं तस्मिन् प्रतिपन्ने कथमिव तिष्ठति । अप्रतिपन्नश्चेत् व्यावर्तकाश्रयविषयज्ञानशून्यमज्ञानं कथमनुभूयेत ?

संगति– उपर्युक्त दो अनुच्छेदों में अद्वैती विद्वानों के अज्ञान के भावरूपत्व के समर्थन का अनुवाद किया गया है । प्रस्तुत अनुच्छेद में उसका खण्डन करते हुए कहा जा रहा है कि अज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है ।

अनुवाद– अद्वैती विद्वानों के उपर्युक्त कथन के पश्चात् अब कहा जा रहा है– मैं अज्ञ हूँ, मैं न तो अपने को और न तो दूसरे को जानता हूँ' इत्यादि अनुभव स्थल में युक्ति सहकृत केवल प्रत्यक्ष के द्वारा भावरूप अज्ञान की प्रतीति नहीं होती है । क्योंकि आपने यह जो युक्ति दी है कि यदि अज्ञान को ज्ञान के प्रागभाव का विषय माना जाय तो फिर विरोध होगा; तो इसके विषय में मेरा कहना है कि अज्ञान को भावरूप मानने पर भी वे दोष होंगे ही । क्योंकि उपर्युक्त अनुभव स्थल में भावरूप अज्ञान के भेदक होने के कारण विषयरूप से अथवा आश्रय रूप से आत्मा की प्रतीति होती है, या नहीं ? यदि कहें कि होती है तो आत्मा के स्वरूप ज्ञान के द्वारा जिस अज्ञान

की निवृत्ति हो जाती है वह अज्ञान उस आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी बना ही रहता है; यह कैसे कहा जा सकता है ? यदि कहें कि भावरूप अज्ञान के भेदक के तौर पर आश्रय अथवा विषय रूप से आत्मा की प्रतीति नहीं होती है तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि– अज्ञान के आश्रय अथवा विषयरूप से भेदक तो आत्मा ही है उसके अवभास के विना अज्ञान की प्रतीति कैसे होगी ?

टिप्पणी– व्यावर्तकाश्रयविषयज्ञानशून्यम्– इत्यादि वाक्य का आशय है कि–अज्ञान का व्यावर्तक (भेदक) प्रत्यगर्थ (आत्मा) ही है। वह या तो ज्ञान का भेद आश्रय बनकर करता है अथवा विषय बनकर करता है। ऐसी स्थिति में आश्रय अथवा विषय भूत आत्मा की प्रतीति के अभाव में अज्ञान का प्रत्यक्ष कैसे संभव हो सकेगा ?

मू०—अथ विशदस्वरूपावभासोऽज्ञानविरोधी; अविशदस्वरूपं तु प्रतीयत इत्याश्रयविषयज्ञाने सत्यपि नाज्ञानानुभव-विरोध इति। हन्त ! तर्हि ज्ञानप्रागभावोऽपि विशद-स्वरूपविषयः। आश्रयप्रतियोगिविज्ञानं तु अविशदस्व-रूपविषयमिति न कश्चिद्विशेषोऽन्यत्राभिनिवेशात्;भाव-रूपस्याज्ञानस्याऽपि ह्यज्ञानमिति सिध्यतः, प्रागभाव-सिद्धाविव सापेक्षत्वमस्त्येव। तथाहि—अज्ञानमिति-ज्ञानाभावस्तदन्यस्तद्विरोधी वा? त्रयाणामपि तत्त्व-

रूपज्ञानापेक्षावश्याश्रयणीया । यद्यपि तमः स्वरूपप्रतिपत्तौ प्रकाशापेक्षा न विद्यते; तथापि प्रकाशविरोधीत्यनेनाकारेणप्रतिपत्तौ प्रकाशप्रतिपत्त्यपेक्षाऽस्त्येव । भवदभिमताज्ञानं न कदाचित् स्वरूपेण सिद्धयति; अपि त्वज्ञानमित्येव,तथा सतिज्ञानाभाववत् तदपेक्षत्वं समानम् । ज्ञानप्रागभावस्तु भवताप्यभ्युपगम्यते। प्रतीयते चेत्युभयाभ्युपेतो ज्ञानप्रागभाव एव 'अहमज्ञो' 'मामन्यं च न जानामि' इत्यनुभूयत इत्यभ्युपगन्तव्यम् ॥

अनुवाद– यदि इस पर आप कहें कि आत्मा के स्वरूप का विशदावभास ही अज्ञान का विरोधी है किन्तु अज्ञान की प्रतीति काल में आत्माके स्वरूप की अविशद ही प्रतीति होती है, विशद प्रतीति (आत्मा की प्रमाण ज्ञान के द्वारा प्रतीति को विशद प्रतीति कहते हैं) नहीं होती है । अतएव एक ओर अज्ञान के आश्रय और विषय रूप से आत्मा की प्रतीति होते रहने पर भी उसका अज्ञान के साक्षात्कार से कोई विरोध नहीं होता है । (तो इस पर हमारा (श्रीभाष्यकार का) कहना है कि ये सभी वातें तो अज्ञान को अभावरूप मान लेने पर भी मिल जाती हैं।) क्योंकि ज्ञान के प्रागभावरूप जो अज्ञान वह भी आत्मा के विशद स्वरूप को अपना विषय वनाता है और उसके आश्रय और प्रतियोगी का जो ज्ञान होता है, वह आत्माके अविशद स्वरूप को अपना विषय वनाता है । अतएव अज्ञान को

भावरूप पदार्थ मानने से कोई विशेषता नहीं आयी। अज्ञानरूप से प्रकाशित होने वाले भावरूप अज्ञान को भी उसी तरह अपनी सिद्धि के लिये प्रतियोगी की अपेक्षा होती है जिस तरह ज्ञान के प्रागभाव रूप अज्ञान को अपनी सिद्धि के लिए प्रतियोगी की अपेक्षा होती है। कहने का आशय है कि–अज्ञान का अर्थ आप (अद्वैती विद्वान् क्या मानते हैं ? ज्ञान का अभाव, या ज्ञान का विरोधी अथवा ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु? इन तीनों को अपनी सिद्धि के लिये अज्ञान के प्रतियोगी रूप से ज्ञान की अपेक्षा अवश्य स्वीकार करनी होगी। यद्यपि तमस् (अन्धकार) के स्वरूप के ज्ञान के लिये प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती है फिर भी तमस् के प्रकाश विरोधी रूप से प्रतीति में तो उसके प्रतियोगी रूप से प्रकाश ज्ञान की अपेक्षा आवश्यक होगी। आपको अभिमत भावरूप अज्ञान की कभी भी स्वरूपतः प्रतीति नहीं होती है, अपितु अज्ञानरूप से ही होती है। और ऐसा होने के कारण भावरूप अज्ञान को भी अपनी सिद्धि हेतु उसी तरह से प्रतियोगी ज्ञान की अपेक्षा होती है, जिस तरह ज्ञान के प्राग–भाव रूप अज्ञान को। किञ्च आप भी अज्ञान को ज्ञान के प्रागभाव रूप से ही स्वीकार करते हैं। और अज्ञान की ज्ञान के प्रागभाव रूप से प्रतीति भी होती है। अतएव "मैं अज्ञ हूँ; मैं न तो अपने को और न तो दूसरे को जानता हूँ।" इत्यादि अनुभवों में प्रतीयमान अज्ञान को हम और आप दोनों से स्वीकृत अज्ञान को ज्ञान के प्रागभाव रूप से ही स्वीकार करनी चाहिये।

टिप्पणी–हन्त तर्हि– इत्यादि वाक्य में "विशद स्वरूप विषयः" पद का अर्थ 'विशद स्वरूप ही अवच्छेदक है जिसका' इस प्रकार से समझना चाहिए। प्रागभाव की स्वविषयावच्छेदकता अपने विषय ज्ञान द्वारा होती है। अतएव अर्थ हुआ कि प्रागभाव भी विशदस्वरूपज्ञानावच्छिन्न होता है। कहने का मतलब है कि विशद स्वरूप का ज्ञान प्रागभाव का प्रतियोगी होता है। आश्रयप्रतियोगिज्ञानन्तु इत्यादि, वाक्य में यह बतलाया गया है कि आश्रय और प्रतियोगी का ज्ञान तो अविशद स्वरूप को अपना विषय बनाता है। यहाँ आश्रय ज्ञान की अविशद स्वरूप की विषयता का अर्थ है अविशद प्रत्यगर्थ की विषयता। प्रतियोगी ज्ञान के अविशद स्वरूप विषयत्व का अर्थ है अभाव प्रतियोगी का अविशद ज्ञान का विषय बनना।

कहने का आशय है कि 'मैं अपने को नहीं जानता हूँ' इस अनुभव में आश्रयज्ञान आत्मा को ही अपना विषय बनाता है और प्रतियोगी ज्ञान भी ज्ञान के विषय रूप से आत्मा को ही अपना विषय बनाता है। फिर भी ये दोनों ज्ञान विशदरूप से आत्मा को अपना विषय नहीं बनाते, क्योंकि आत्मा के विषय में ये दोनों ज्ञान अविशद ही रहते हैं। अतएव ही 'मैं अपने को नहीं जानता हूँ' यह ज्ञान जिस प्रकार से विशद (स्पष्ट) होता है उस प्रकार 'अपने को जानता हूँ यह ज्ञान स्पष्ट नहीं होता है। उस समय आत्मा का निश्चयात्मक साक्षात्कार रूप ज्ञान

नहीं रहता है, इसलिए अभाव प्रतियोगी भूत ज्ञान की विशदता एवं विद्यमान प्रतियोगी ज्ञान की अविशदता में कोई विरोध नहीं है।

ज्ञान प्रागभावस्तु० इत्यादि वाक्य में यह बतलाया गया है कि अद्वैती विद्वान् भी अज्ञान को ज्ञान का प्रागभाव रूप मानते ही हैं। क्योंकि– 'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि वाक्यों मे प्रतीयमान अज्ञान के अभावरूपत्व के विषय में विवाद है। किन्तु अज्ञान के ज्ञानाभावत्व को आप भी मानते ही हैं। यदि ऐसा नहीं मानें तो फिर प्रमाण ज्ञान का प्रागभाव नहीं होने के कारण वह अनादि हो जायेगा और उसके द्वारा निवर्त्य अज्ञान की फिर उत्पत्ति ही नहीं होगी, अतएव अज्ञान को ज्ञानाभाव रूप से आप भी स्वीकार करते ही हैं। लोक में भी विभिन्न ज्ञानों के अभाव की ही विवक्षा से ज्ञान नहीं है, इस प्रकार का व्यवहार देखा जाता है।

—* प्रतिकूल तर्क का खण्डन *—

मूल—नित्यमुक्तस्वप्रकाश चैतन्यैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवश्च न संभवति, स्वानुभवस्वरूपत्वात्। स्वानुभवस्वरूपमपि तिरोहित स्वरूपमज्ञानमनुभवतीति चेत्, किमिदं तिरोहित स्वस्वरूपत्वम्? अप्रकाशितस्वस्वरूपत्वमिति चेत्, स्वानुभव स्वरूपस्य कथमप्रकाशितस्वरूपत्वम्?

स्वानुभव स्वरूपस्याप्यन्यतेऽप्रकाशित स्वरूपत्वमुपपद्यत इति चेत्; एवं तर्हि प्रकाशाख्य धर्मानभ्युपगमेन प्रकाशस्यैव स्वरूपत्वादन्यतः स्वरूपनाश एव स्यादिति पूर्वमेवोक्तम् ।

संगति–किञ्च अद्वैती विद्वान् मानते हैं कि ब्रह्म नित्य–मुक्त, स्वयंप्रकाश तथा ज्ञानमात्र स्वरूप है । किन्तु वही ब्रह्म अज्ञान का अनुभव करता है । अद्वैती विद्वानों के इस अर्थ का खण्डन प्रस्तुत अनुच्छेद में किया जा रहा है ।

अनुवाद– और नित्यमुक्त (होने के कारण दोषों से जिसका कभी सम्वन्ध नहीं हो सकता ऐसा) स्वयंप्रकाश ज्ञानमात्र स्वरूप ब्रह्म को अज्ञान का अनुभव (दर्शन) भी कभी संभव नहीं है । क्योंकि ब्रह्म स्वयं ज्ञानस्वरूप है । इस पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि यद्यपि ब्रह्म स्वयं स्वानुभवरूप है फिर भी जव उसका स्वरूप तिरोहित हो जाता है उस समय वह अज्ञान का अनुभव (दर्शन) करता है । तो यहाँ पर यह जिज्ञास्य है कि यह ब्रह्म की तिरोहितस्वरूपता क्या है ? यदि कहें कि ब्रह्म के स्वरूप को प्रकाशित नही रहना ही वह तिरोहित स्वरूपता है तो यहाँ पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि जो ब्रह्म स्वानुभवस्वरूप ही है, उसका स्वरूप अप्रकाशित कैसे रह सकता है? यदि कहें कि स्वानुभवस्वरूप ब्रह्म के होने पर भी उसका स्वरूप उससे भिन्न अविद्या से आवृत होने के कारण अप्रकाशित

हो जाना संभव है तो फिर ऐसा मानने पर मेरा यहाँ कहना है कि आपके मत में ब्रह्म के प्रकाश नामक धर्म को नहीं स्वीकार करने के कारण, प्रकाश ही ब्रह्म का स्वरूप होगा, उससे भिन्न अविद्या के द्वारा उसके (ब्रह्म के) स्वरूप को अप्रकाशित होने का अर्थ होगा ब्रह्म के स्वरूप का ही नाश। यह ठीक वैसे ही होगा जैसे अन्धेरे से दीपक का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। यह मैं पहले ही (तिरोधानानुपपत्ति में ही) कह चुका हूँ।

टिप्पणी– नित्यमुक्तमें नित्य उस वस्तु को कहते हैं जिसकी सत्ता त्रिकाल में भी वनी रहे। और मुक्त कह कर इस वात का संकेत किया गया है कि ब्रह्म का वस्तुतः कभी भी दोषों से संसर्ग नहीं होता है। अतएव ब्रह्म में कोई परमार्थ दोष नहीं हो सकता है। किञ्च ब्रह्म के स्वानुभव स्वरूप होने के कारण उसे अपरमार्थ अपने से भिन्न अविद्या का अनुभव भी नहीं हो सकता है।

मू०—किञ्च—ब्रह्मस्वरूपतिरोधानहेतुभूतमज्ञानं, स्वयमनु—भूतं सत् ब्रह्मतिरस्करोति। ब्रह्म तिरस्कृत्य स्वयंतदनु-भवविषयो भवतीत्यन्योन्याश्रयणम्।

अनुवाद– किञ्च अविद्या तो अपरमार्थ है, अतएव वह अपनी सता के द्वारा तो ब्रह्म के स्वरूप की आच्छादिका नहीं हो सकती है, अपितु प्रतीयमान होने के कारण वह ब्रह्म के स्वरूप की आच्छादिका है। अतएव ब्रह्म के स्वरूप के तिरोहित

होने का जो कारण स्वरूप अज्ञान है वह स्वयं ब्रह्म के द्वारा अनुभव किये जाने पर ही ब्रह्म के स्वरूप को आच्छादित कर सकता है; किन्तु जब तक अविद्या के द्वारा ब्रह्म का स्वरूप तिरोहित नहीं हो जाता है तब तक अविद्या का ब्रह्म अनुभव नहीं कर सकता, इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होगा।

कहने का आशय है- कि जब तक ब्रह्म अविद्या का अनुभव नहीं करेगा तब तक उसका स्वरूप नहीं तिरोहित हो सकता है और जब तक अविद्या के द्वारा ब्रह्म का स्वरूप तिरोहित नहीं हो जाता है तब तक ब्रह्म उसका अनुभव नहीं कर सकता है। यह उसी तरह से अन्योन्याश्रय होगा जिस तरह विवेक शून्य हुये विना कोई शुद्ध ब्राह्मण मदपान नहीं कर सकता, और मदपान करने पर ही वह विवेकशून्य होता है।

मू०—अनुभूतमेव तिरस्करोतीति चेत्;यद्यतिरोहितस्वरूपमेव ब्रह्माज्ञानमनुभवति तदा तिरोधानकल्पना निष्प्रयोजना स्यात्, अज्ञानस्वरूप कल्पना च। ब्रह्मणोऽज्ञान दर्शनवदज्ञान कार्यतयाऽभिमतप्रपञ्चस्यापि सम्भवात्। किञ्च ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवः किं स्वतोऽन्यतो वा? स्वतश्चेदज्ञानानुभवस्य स्वरूपप्रयुक्तत्वेनानिर्मोक्षः स्यात्। अनुभूति स्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवस्वरूपत्वेन मिथ्यारजतबाधकज्ञानेन रजतानुभवस्यापिनिवृत्तिवन्निवर्तक ज्ञानेनाज्ञानानुभूतिरूपब्रह्मस्वरूपनिवृत्तिर्वा?

अन्यतश्चेत्; किं तदन्यत् ? अज्ञानाल्लर्रमिति चेत्, अनव-स्था स्यात् । ब्रह्मतिरस्कृत्यैव स्वयमनुभवविषयो भवतीति चेत्; तथासतीदमज्ञानं काचादिवत् स्वसत्तया ब्रह्म-तिरस्करोतीतिज्ञानबाध्यत्वमज्ञानस्य न स्यात् ।

अनुवाद–यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि ब्रह्म के द्वारा अनुभव किये जाने पर ही अज्ञान उसके स्वरूप को आवृत करता है; तो यहाँ पर मेरा यह कहना है कि यदि स्वरूपका तिरोधान हुए विना ही ब्रह्म अज्ञान का अनुभव करता है तो फिर ब्रह्म के स्वरूप के तिरोधान की कल्पना तथा अज्ञान के स्वरूप की कल्पना व्यर्थ ही होगी । (क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप के तिरोधान की कल्पना तथा अज्ञान के स्वरूप की कल्पना इस लिए आप करते हैं कि नित्यमुक्त स्वयं प्रकाश ज्ञानमात्र स्वरूप ब्रह्म तब तक अज्ञान का दर्शन नहीं कर सकता जब तक वस्तु के स्वरूप के आच्छादक अज्ञान के द्वारा ब्रह्म का स्वरूप आवृत न हो जाय यदि वह अपने स्वरूप के तिरोधान के विना ही अज्ञान का दर्शन करता है तो फिर अविद्या के द्वारा उसके स्वरूप तिरोधान की कल्पना बेकार ही है । यदि आप कहें कि स्वरूप के तिरोधान के विना ब्रह्म प्रपञ्च का दर्शन नहीं कर सकता तो यह आपका कथन उचित नहीं है । यदि ब्रह्म अज्ञान का दर्शन अपने स्वरूप तिरोधान के विना ही करता है तो वह अज्ञान दर्शन के ही समान अज्ञान के कार्य भूत प्रपञ्च का दर्शन करेगा ही ।

'किञ्च–यहाँ पर जिज्ञास्य है कि–ब्रह्म अज्ञान का अनुभव स्वतः करता है अथवा अन्य किसी माध्यम से ? यदि कहें कि वह अज्ञान का अनुभव स्वयं करता है तो फिर ब्रह्म का अज्ञानानुभव (ब्रह्म के निर्गुण होने के कारण) ब्रह्म का स्वरूप ही होगा और उस स्वाभाविक अज्ञानानुभव के कारण कभी मोक्ष नहीं होगा। जो ब्रह्म ज्ञानस्वरूप (आपके द्वारा कहा जाता है; उसी के) अज्ञानानुभवस्वरूप होने के कारण जिस तरह मिथ्यारजत के बाधक ज्ञान के द्वारा रजतानुभव की निवृत्ति होती है उसी तरह निवर्तक ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति मानने पर अज्ञानानुभव स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप की ही निवृत्ति होगी।

यदि कहें कि ब्रह्म अन्य के द्वारा अज्ञान का अनुभव करता है तो यहाँ पर जिज्ञास्य है कि वह अन्य क्या है ? यदि कहें कि वह दूसरा अज्ञान है; तो फिर अनवस्था नामक दोष होगा। क्योंकि जो जो अज्ञानान्तर अज्ञानानुभव का कारण होगा उस अज्ञान का भी कोई अज्ञानान्तर ही कारण होगा और उस अज्ञानान्तर का भी दूसरा अज्ञानान्तर। इस तरह अनवस्था नामक दोष होगा।

यदि कहें कि अज्ञान ब्रह्म के स्वरूप को तिरोहित ही करके स्वयम् ब्रह्म के अनुभव का विषय बन जाता है तो फिर यह मानना होगा कि जैसे काचादि दोष अपनी सत्ता से वस्तु के स्वरूप को तिरोहित करके वस्तु की अन्यथा प्रतीति के कारण बन जाते हैं, और वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने

पर भी निवर्तित नहीं होते, उसी तरह यह अज्ञान वस्तु याथात्म्यज्ञान रूपी निवर्तक ज्ञान के द्वारा निवर्तित नहीं होता, फलतः अज्ञान का ज्ञान बाध्य रूप आपका सिद्धान्त भंग होगा।

मू०—अथ इदमज्ञानं स्वयमनादि, ब्रह्मणः स्वसाक्षित्वं ब्रह्मस्वरूपतिरस्कृति च युगपदेवकरोति, अतो नानवस्थादयो दोषा इति। नैतत्; स्वानुभवस्वरूपस्यब्रह्मणः स्वरूप तिरस्कृतिमन्तरेण साक्षित्वापादनायोगात्। हेत्वन्तरेण तिरस्कृतमितिचेत्; तर्ह्यस्यानादित्वमपास्तम्, अनवस्था च पूर्वोक्ता। अतिरस्कृतस्वरूपस्यैव साक्षित्वापादने ब्रह्मणः स्वानुभवैकतानता च न स्यात्।

उपर्युक्त अन्योन्याश्रय एवं अनवस्था दोष हटाने के लिए यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि यह अज्ञान स्वयं तो अनादि है वह एक ही समय में ब्रह्म के साक्षित्व एवं ब्रह्म के स्वरूप तिरोधान रूप दोनो कार्यों को करता है। अतएव उपर्युक्त अनवस्था आदि (अन्योन्थाश्रय) दोषों की शंका नहीं की जा सकती है। तो अद्वैती विद्वान् ऐसा नहीं कह सकते हैं; क्योंकि जब तक स्वयंस्वानुभवस्वरूप ब्रह्म के स्वरूप का तिरोधान (आवरण) अज्ञान नहीं करेगा तब तक वह उसके साक्षित्व कार्य का सम्पादन नही कर सकता है।

[क्योंकि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने के कारण स्वयं ही अपना अनुभव करता है और जब तक उसका स्वरूप आवृत

नहीं होगा तब तक वह अपने को प्रपञ्च के अन्तर्गत कैसे मानेगा ? यदि अविद्या से भिन्न एक दूसरा अज्ञान है उससे जो अविद्या उत्पन्न हुई और उसी ने ब्रह्म के स्वरूप को तिरोहित किया तो फिर आप जो अविद्या को अनादि मानते हैं वह नहीं कह सकते (क्योंकि वह सादि हो गई ।) और पूर्वोक्त अनवस्था तो बनी ही रहेगी । (क्योंकि अविद्योत्पादक अज्ञान के उत्पादक अज्ञान की भी जिज्ञासा होगी ।) यदि आप ब्रह्म के स्वरूप को तिरोहित हुए बिना ही उसके अज्ञान साक्षित्व का प्रतिपादन करें तो फिर आप ब्रह्म के स्वानुभवस्वरूपता की सिद्धि नहीं कर सकते हैं ।

मू०—अपि च अविद्यया ब्रह्मणि तिरोहिते तद्ब्रह्म न किंचित् प्रकाशते ? उत प्रकाशते ? पूर्वस्मिन् कल्पे प्रकाशमात्र-स्वरूपस्य ब्रह्मणोऽप्रकाशे तुच्छतापत्तिरसकृदुक्ता । उत्तरस्मिन्कल्पे सच्चिदानन्दैकरसे ब्रह्मणि कोऽयमंशः तिरस्क्रियते ? को वा प्रकाशते निरंशे निर्विशेषे प्रकाश-मात्रे वस्तुनि आकारद्वयासंभवेन तिरस्कारः प्रकाशश्च युगपन्न संगच्छेते ।

अनुवाद–किञ्च यहाँ पर यह भी जिज्ञास्य है कि अविद्या के द्वारा ब्रह्म के तिरोहित (आवृत) हो जाने पर वह ब्रह्म बिल्कूल नहीं प्रकाशित होता है अथवा कुछ प्रकाशित होता है ? यदि कहें कि बिल्कूल नहीं प्रकाशित होता है तो मैं बार-बार कह

चुका हूँ कि प्रकाश मात्र स्वरूप वाले ब्रह्म के प्रकाशित नहीं होने पर ब्रह्म में तुच्छतापत्ति होगी । यदि आप अन्तिम पक्ष (अर्थात् अविद्या के द्वारा तिरोहित होने पर भी ब्रह्म थोड़ा—थोड़ा प्रकाशित होता रहता है ।) मानें तो यहाँ पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का यह कौन सा अंश है, जिसे अविद्य तिरोहित कर देती है ? और उसका कौन सा अंश प्रकाशित होता हैं ? जब अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म अंश रहित निर्विशेष ज्ञानमात्र वस्तु माना जाता है तो उसके दो आकारों का होना संभव नहीं हैं फलतः समकाल में ही उसके स्वरूप का तिरोधान और प्रकाश सम्भव नहीं है ।

सू०—अथ सच्चिदानंदैक रसं ब्रह्म अविद्यया तिरोहित स्वरूपमविशदमिव लक्ष्यत इति; प्रकाशमात्र स्वरूपस्य विशदताऽविशदता वा किं रूपा ? एतदुक्तं भवति यस्सांशस्सविशेषः प्रकाशविषयः तस्य सकलावभासो विशदावभासः; कतिपयविशेषरहितावभासश्च अविशदावभासः । तत्र य आकारोऽप्रतिपन्नः तस्मिन्नंशे प्रकाशाभावादेव प्रकाशावैशद्यं न विद्यते । यश्चांशः प्रतिपन्नस्तस्मिन्नंशे तद्विषयप्रकाशो विशद एव; अतः सर्वत्र प्रकाशांशे अवैशद्यं न संभवति । विषयेऽपि स्वरूपे प्रतीयमाने तद्गत; कतिपयविशेषाप्रतीतिरेवावैशद्यम्; तस्मादविषये निर्वि-

शेषे प्रकाशमात्रे ब्रह्मणि स्वरूपे प्रकाशमाने कतिपय विशेषाप्रतीतिरूपावैशद्यं नामाज्ञानकार्यं न सम्भवति इति।

अनुवाद–यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि ब्रह्म तो सत्, चित्, एवं आनन्द मात्र स्वरूप है। फिर भी अविद्या के द्वारा उसका स्वरूप तिरोहित हो जाता है तव वह अविशद के समान प्रतीत होता है। तो यहाँ पर मेरा कहना है कि प्रकाशमात्र ब्रह्म के स्वरूप के विषय में विशदता एवं अविशदता की सिद्धि नहीं हो सकती है। कहने का अभिप्राय है कि जो प्रकाश का विषय अंश और विशेष से युक्त हो उसकी पूर्ण पतीति ही विशद प्रतीति कहलाती है। और उसकी ऐसी प्रतीति जिसमें उसके कुछ ही विशेष प्रतीत हो रहे हों और कुछ नहीं प्रतीत हो रहे हो वह प्रतीति अविशद प्रतीति कहलाती है, ज्ञान स्वरूप ब्रह्म का जो आकार अज्ञात होता है उस अंश के विषय में प्रकाश (ज्ञान) के अभाव के कारण; अविशदता नहीं मानी जा सकती है। और जो वस्तु का अंश ज्ञात है उस अंश के विषय में होने वाला प्रकाश विशद ही है, अत एव कहीं भी प्रकाश के अंश के विषय में अविशदता नहीं संभव है। [यही नहीं कि ज्ञेयवस्तु के भी ज्ञातांश के विशद होने तथा अज्ञातांश के अज्ञात होने के कारण कहीं भी अवैशद्य संभव नहीं है। यही कहा जा रहा है] विषय के

भी स्वरूप के प्रतीत होते रहने पर ही उसकी कुछ विशेषताओं की प्रतीति का न होना ही अवैशद्य कहलाता है। और जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय ही नही बनता है, उस निर्विशेष प्रकाश मात्र ब्रह्म में स्वरूप की प्रतीति होते रहने पर कुछ विशेषों की प्रतीति का अवभास अवैशद्य नामक अज्ञान का कार्य सम्भव ही नहीं है।

मूल—अपि च इदमविद्याकार्यमवैशद्यं तत्त्वज्ञानोदयान्निवर्ततेनवा ? अनिवृतावपवर्गाभावः। निवृत्तौ च वस्तु किंरूपमिति विवेचनीयम् विशदस्वरूपमिति चेत् तद्विशदस्वरूपंप्रागस्तिनवा? अस्तिचेत्, अविद्याकार्यमवैशद्यं तन्निवृत्तिश्च नस्याताम्। नोचेन्मोक्षस्य कार्यतया अनित्यता स्यात्। अस्याज्ञानस्याश्रयानिरूपणादेवा संभवः पूर्वमेवोक्तः। अपि च— अपरमार्थ दोषमूलभ्रम वादिना निरधिष्ठानभ्रमा संभवोऽपि दुरुपपादः। भ्रमहेतुभूतदोषदोषाश्रयत्ववदधिष्ठाना पारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेः। ततश्च सर्वशून्यत्वमेव स्यात्।

अनुवाद—किञ्च हम अद्वैती विद्वानों से यह जानना चाहते हैं कि यह जो अज्ञान का कार्य अवैशद्य है वह उसके तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होने से निवृत्ति होती है कि नहीं ? यदि नहीं होती है तो फिर मोक्ष नहीं होगा। यदि कहें कि अज्ञान की निवृत्ति

तत्त्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर होती है तो यहाँ पर जिज्ञास्य है कि उस निवृत्ति के बाद वस्तु का स्वरूप क्या होता है ? यदि कहें कि फिर ब्रह्मविशदस्वरूप ही रह जाता है तो मैं यहाँ यह जानना चाहूँगा कि ब्रह्म विशद स्वरूप पहले था या नहीं ? यदि कहें कि था, तो अविद्या का कार्य अवैशद्य तथा उसकी निवृत्त नहीं हो सकते । यदि कहें कि अविद्या की निवृत्ति के पूर्व ब्रह्म का विशद स्वरूप नहीं था तो फिर मुक्त स्वरूप उत्पन्न होने से कार्य होने के कारण वह अनित्य हो जायेगा । इस अज्ञान के चूँकि आश्रय का निरूपण नहीं किया जा सकता है अतएव इसका आश्रय असंभव है, यह मैंने पहले ही कह दिया था ।

किञ्च दूसरी बात यह है कि अपरमार्थ दोष मूलक भ्रम का प्रतिपादन करने वाले अद्वैती विद्वानों द्वारा यह भी नहीं सिद्ध किया जा सकता है कि बिना सत्य अधिष्ठान के भ्रम संभव ही नहीं । क्योंकि जिस तरह भ्रम को उत्पन्न करने वाले दोष एवं दोषाश्रय के अपरमार्थ होने पर भी भ्रम उत्पन्न होता है उसी तरह भ्रम के अधिष्ठान के भी अपरमार्थ होने पर भी भ्रम की उपपत्ति [सिद्धि] संभव नही है । और ऐसा मान लेने से सर्वशून्यता की सिद्धि होने लगेगी । (क्योंकि अद्वैत सिद्धान्त में भी भ्रमाधिष्ठान ही सत्य माना जाता है, उसके भी अपरमार्थत्व की सिद्धि हो जाने पर तो फिर सर्व शून्यवाद की ही विजय होने लगेगी ।

टिप्पणी—अपरमार्थ दोषमूलभ्रमवादिनाः इत्यादि वाक्य का

आशय है कि अद्वैती विद्वान् यह मानते हैं कि प्रपञ्च दर्शन का मूल कारण जो अज्ञान है वह परमार्थ नहीं है क्योंकि उस अज्ञान का बाध अधिष्ठान के स्वरूप ज्ञान के द्वारा हो जाता है। किन्तु उस भ्रम का अधिष्ठान ब्रह्म इसलिए परमार्थ है कि विना सत्य अधिष्ठान के भ्रम सम्भव ही नही है। इस पर श्री भाष्वकार का कहना है कि जब दोष का मूल कारण अज्ञान मिथ्या हो सकता है तो फिर भ्रम के अधिष्ठान ब्रह्म को सत्य मानने की क्या आवश्यकता है, वह भी उसी तरह से मिथ्या हो सकता है। इस पर यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि अधिष्ठान के अपरमार्थ प्रपञ्च के लिए परमार्थ अधिष्ठान की अपेक्षा होती है उसी तरह उस अधिष्ठान के लिए भी अधिष्ठानान्तर की कल्पना करनी होगी तथा उस अधिष्ठान के भी अधिष्ठानान्तर की। इस तरह अनवस्था नामक दोष होगा। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि दोष भूत अज्ञान के भी अपरमार्थ होने पर उसके लिए भी प्रपच्च के ही समान दोषान्तर की वार-वार कल्पना करने के कारण अनवस्था नामक दोष होगा। इस पर भी यदि आप यह कहें कि यद्यपि दोष अपरमार्थ है फिर भी उसका स्वरूप अनादि है अतएव उसमें अनवस्था दोष नहीं सम्भव है। तो यहाँ पर मेरा यह कहना है कि ब्रह्म के स्वरूप को अपरमार्थ होने पर भी उसको अनादि मानकर अनवस्था दोष से वचा जा सकता है।

इस पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि यद्यपि प्रवाहा-

नादित्व एवं दु[illegible] कारण दोनों का परिहार समान ही है फिर भी अजान की एक विशेषता है कि वह प्रपञ्च दर्शन और स्व (अज्ञान) दर्शन का स्वयमेव निर्वाहक है, अतएव उसके लिए दोषान्तर की अपेक्षा नहीं होने से अनवस्था दोष नहीं हो सकता है ॥ तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि देखा जाता है कि जो परमार्थ होता है वही स्वयं निर्वाहक होता है । सत्य ही, ज्ञान, सूर्य रश्मि, प्रदीपादि अपना प्रकाशन स्वयं करते हुए अपने विषयभूत घटपटादि को प्रकाशित करते हैं, अज्ञान तो अपरमार्थ है अतएव वह स्वपर का निर्वाहक नहीं हो सकता है । किञ्च यदि असत्य दोष स्वपरनिर्वाहक हो सकता है तो फिर असत्य अधिष्ठान को भी स्वपर निर्वाहक मानकर अनवस्था दोष से बचा ही जा सकता है ।

भावरूप अज्ञान के अनुमान का खण्डन

मूल—यदुक्तम्—अनुमानेनाऽपि भावरूपमज्ञानं सिद्धयतीति, तदयुक्तम् । अनुमानासम्भवात्। ननूक्तमनुमानम् ।सत्यमुक्तम् । दुरुक्तंतु तत् । अज्ञानेऽप्यनभिमताज्ञानान्तर साधनेन विरुद्धत्वोद्धेतोः । तत्राज्ञानान्तरासाधने हेतोरनैकान्त्यम् , साधने च तदज्ञानमज्ञानसाक्षित्वं निवारयति । ततश्चाज्ञान कल्पना निष्फलास्यात् , दृष्टन्तश्च साधनविकलः, दीपप्रभाया अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वाभावात् । सर्वत्रज्ञानस्यैवहि प्रकाश

कत्वम् । सत्यपि दीपे ज्ञानेनविना विषयप्रकाशाभावात् । इन्द्रियाणामपि ज्ञानोत्पत्ति हेतुत्व मेव न प्रकाशकत्वम् । प्रदीप प्रभायास्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञानमुत्पादयतो विरोधितमो निरसनद्वारेणोपकारकत्वमात्रमेव । प्रकाशकज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियमाणचक्षुरिन्द्रियोपकारकहेतुत्वमपेक्ष्य दीपस्य प्रकाशकत्व व्यवहारः । नास्माभिर्ज्ञान तुल्य प्रकाशकत्वाभ्युपगमेन दीपप्रभा निदर्शिता, अपि तु ज्ञानस्यैव स्वविषयावरणनिरसनपूर्वक प्रकाशकत्वमङ्गीकृत्येति चेन्न; नहि

विरोधिनिरसनमात्रं प्रकाशकत्वम् अपित्वर्थ परिच्छेदः, व्यवहार योग्यतापादनमिति यावत् । तत्तु ज्ञानस्यैव । यद्युपकारकाणामप्य प्रकाशितार्थप्रकाशकत्वमङ्गीकृतम्; तर्हीन्द्रियाणामुपकारकतमत्वेनाप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वमङ्गीकरणीयम् । तथा सति तेषां स्वनिवर्त्यत्ववस्त्वन्तरपूर्वकत्वाभावाद्धेतोरनैकान्त्यमित्यलमनेन ।

ग्रन्थ संगति—अद्वैती विद्वानों ने भावरूप अज्ञान की सिद्धि प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा बतलाया है। उपर के अनुच्छेदों में श्री भाष्यकार स्वामी जी ने भावरूप अज्ञान के साक्षात्कार का खण्डन करके इसके अभावरूपत्व का समर्थन किया है। प्रस्तुत अनुच्छेद में अद्वैती विद्वानों उपस्थापित अज्ञान के भावपदार्थत्व के समर्थक अनुमान का खण्डन किया जा रहा हैं।

अनुवाद-अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि-अनुमान के द्वारा भी भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है, तो उनका यह कथन अनुचित है, क्योंकि भावरूप अज्ञान का अनुमान हो ही नहीं सकता है। यदि आप कहें कि मैंने तो भावरूप अज्ञान का अनुमान किया ही है, तो आपनें किया तो है अवश्य किन्तु आप उस अनुमान की सिद्धि नहीं कर सकते हैं। क्योंकि इस अनुमान के हेतु द्वारा प्रपंच के कारण भूत अज्ञान के रहने पर भी उससे भिन्न एक अज्ञान की सिद्धि होती है जो अद्वैतियों को अभिमत नहीं है। अतएव उस अनुमान का हेतु विरुद्धत्वनामक हेत्वाभास से दूषित है। यदि यह अनुमान ज्ञान ज्ञानान्तर की सिद्धि नहीं कर सका तो यह अज्ञान साधकत्वरूप साध्य से रहित होनें के कारण अनैकान्तिकत्व रूप दोष से दूषित होगा। (अतएव यह अवश्य ज्ञानांतर का साधक है) और इसके द्वारा अज्ञानान्तर की सिद्धि की जाने पर वह अज्ञान ब्रह्म के प्रपञ्च दर्शन के साधन भूत अज्ञान के साक्षित्व का खण्डन कर देगा। फलतः प्रपञ्च दर्शन के कारणभूत अज्ञान की कल्पना व्यर्थ होगी।

किञ्च- उक्त अनुमान का दृष्टान्त साधन रहित है। क्योंकि अनुमान में दृष्टान्त वाक्य 'अन्धकार में उत्पन्न प्रथम प्रदीप प्रभा के समान' कहा गया है। किन्तु दीपक की प्रभा अप्रकाशित विषय की प्रकाशिका नहीं हो सकती है, क्योंकि सब जगह ज्ञान ही प्रकाशक होता है। क्योंकि यदि दीपक रहे ही किन्तु उस वस्तु का ज्ञान न रहे तो फिर उस वस्तु का प्रकाश नहीं हो सकता है।

इन्द्रियां भी ज्ञान की उत्पत्ति के कारणमात्र ही हैं, वस्तुओं के प्रकाशक नहीं। और प्रदीप की प्रभा तो ज्ञान को उत्पन्न करने वाली चक्षुरिन्द्रिय के विरोधी अन्धकार को दूर करके चक्षुरिन्द्रिय का उपकारक ही मात्र है। और वस्तु के प्रकाशक ज्ञान की उत्पत्ति में लगी हुई चक्षुरिन्द्रिय के उपकारकत्वरूप हेतु को लेकर चक्षुरिन्द्रिय का प्रकाशकत्व व्यवहार होता है। अतएव प्रदीप की प्रभा को वस्तुओं का प्रकाशक नहीं माना जा सकता है।

यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान यह कहें कि हम लोग ज्ञान के ही समान प्रकाश प्रदीप प्रभा को मानकर उसका उदाहरण नहीं देते हैं बल्कि यह स्वीकार करके उसका उदाहरण देते हैं कि ज्ञान ही अपने विषय के आच्छादक को निर्वतित करते हुए उस विषय का प्रकाशन किया करता है। तो यह कहना ठीक नही है क्योंकि केवल विरोधी का निरसन मात्र ही प्रकाश करना नहीं कहलाता है बल्कि विषय का परिच्छेद यानी विषयों में व्यवहार की योग्यता ला देना ही उनका प्रकाशन कहलाता है। और (विषयों में व्यवहार की योग्यता ला देने का कार्य) ज्ञान ही करता है। यदि (आप दीपक जैसे) उपकारकों को भी अप्रकाशित अर्थ (विषय) का प्रकाशक स्वीकार करते हैं तब तो इन्द्रियाँ जो उपकारकतम हैं उन्हें भी अप्रकाशितार्थ का प्रकाशक मानना चाहिये, और इन्द्रियों का भी अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक मानने पर भी इन्द्रयों में स्वनिवर्त्य वस्त्वन्तर पूर्वकत्व रूप साध्य का अभाव होने के कारण हेतु में अनैकान्तिकत्व नामक दोष आयेगा। (इस तरह व्यभिचरित

हेतु होने के कारण यह साध्य का साधक नहीं हो सकता है। यदि इस व्यभिचार को हटाने के लिए हेतु को साक्षात् अप्रकाशितार्थ का प्रकाशक माना जाय तो फिर दीपक में साक्षात् अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्व का अभाव होने के कारण दृष्टान्तभूत दीप हेतु हो जायेगा। अतएव उक्त अनुमान की उक्ति दुरुक्तिमात्र ही है।

टिप्पणी—तत्राज्ञानान्तरासाधने हेतोरनैकान्त्यम्—इस वाक्य का अभिप्राय है कि अद्वैती विद्वनों द्वारा कहे गये अनुमान का हेतु है अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्व। इस हेतु के द्वारा होने वाला अनुमान भी अप्रकाशितार्थ का प्रकाशक होगा ही। ऐसा नही मानने पर वह प्रकाशित अर्थ का भी प्रकाशक होने लगेगा और ऐसा होने पर उस अनुमान में हेतु के रहने के कारण अनुमान के ग्राहक अज्ञान के आवरक अज्ञान को नहीं स्वीकार करने के कारण स्वविषयावरकापूर्वकत्व रूप साध्य के अभाव में हेतु व्यभिचरित हो जायेगा। ततश्चाज्ञानकल्पना निष्फला स्यात्—इस वाक्य का अभिप्राय है कि प्रमाण ज्ञान के अप्रकाशितार्थ प्रकाशक होने के कारण उस ज्ञान के विषय को आवृत कर देने वाले अज्ञानान्तर के साधक हेतु को मानने पर वह (कल्पित) अज्ञान ब्रह्म के स्वरूप के आवरक अज्ञान के स्वरूप को आवृत कर लेता है ऐसा मानना होगा। उस अज्ञानान्तर के द्वारा आच्छादित होने के कारण वह अज्ञान ब्रह्म के साक्षात्कार का विषय नहीं बन पायेगा। ऐसी स्थिति

में अपरमार्थ अप्रतीयमान अज्ञान के कार्यकारी न हो सकने के कारण अज्ञान की कल्पना व्यर्थ ही होगी। क्योंकि ब्रह्म के स्वरुपाच्छादनार्थ ही आप उस अज्ञान की कल्पना करते हैं। यदि यहाँ पर अद्वैती विद्वान् मान लें कि अप्रत्यक्ष रहकर ही वह आवरण का कार्य करता है तो फिर यही मानना होगा कि अज्ञान अपनी सत्ता मात्र से ब्रह्म के स्वरूपाच्छादनका कार्य किया करता हैं। ऐसी स्थित में वह अपरमार्थ न होकर अपनी सत्ता मात्र से आच्छादक सत्य काचदि दोष के समान सत्य होने के कारण ज्ञाननिवर्त्य नहीं रह पायेगा। और अज्ञान के ज्ञान निवर्त्यत्व के निष्फल होने पर हेतु में कारण रूप से अनभिमत अज्ञानान्तर के साधकत्व और उसके न सिद्ध कर पाने पर अनकान्तिकत्व नामक दोष आयेगा।

मूल—प्रतिप्रयोगाश्च—विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्र-ब्रह्माश्रयम्, अज्ञानत्वात्। शुक्तिकाद्यज्ञानवत्, ज्ञात्राश्रयं हि तत्। विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्र ब्रह्मावरणम्, अज्ञानत्वात्, शुक्तिकाद्यज्ञानवत्; विषयावरणंहि-तत्। विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञाननिवर्त्यम् ज्ञानविषयानावरणत्वत् यज्ज्ञान निवर्त्यंज्ञानम्, तत् ज्ञानविषयावरणम् यथा शुक्तिकाद्यज्ञानम्। ब्रह्म नाज्ञा-नाज्ञानास्पदम् ज्ञातृत्वविरहात् घटादिवत्। ब्रह्म नाज्ञा-नावरणम् ज्ञानाविषयत्वात्। यदज्ञानावरणं तज्ज्ञान विषयभूतम् यथा शुक्तिकादि। ब्रह्म न ज्ञान निवर्त्या-

ज्ञानम् ज्ञानविषयत्वात्। यज्ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्, तज्ज्ञान विषयभूतम् यथा शुक्तिकादि

विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावा तिरिक्ताज्ञानपूर्वकं न भवति, प्रमाण ज्ञानत्वात्, भवदभिमताज्ञानसाधनप्रमाणज्ञानवत्। ज्ञानं न वस्तुनों विनाशकम्, शक्तिविशेषोपबृंहणविरहे सति ज्ञानत्वात्। यद् वस्तुनो विनाशकं तच्छक्तिवि-शेषोपबृंहितज्ञानमज्ञानं च दृष्टम्। यथेश्वरयोगि प्रभृतिज्ञानम्। यथा च मुद्गरादि। भावरूपमज्ञानं न ज्ञानविनाश्यम्; भावरूपत्वात् घटादिवदिति।

अनुवाद–किञ्च–चूँकि तर्क भी व्याप्ति मूलक होते हैं अत एव आपके अनुमान के विपरीत भी अनुमान होते हैं। वे हैं–(१) जिस अज्ञान के विषय में यह विवाद है कि उसका आश्रय ब्रह्म है अथवा ब्रह्म व्यतिरिक्त है? उसका आश्रय ज्ञान मात्र ब्रह्म नहीं हो सकता है क्योंकि वह अज्ञान है, शुक्ति आदि के विषय में होने वाले अज्ञान के समान, बल्कि उसका आश्रय ज्ञाता जीव ही हो सकता है, (जिस तरह से शुक्ति आदि के विषय में होने वाले अज्ञान का आश्रय ज्ञाता जीव ही होता है।) [२] विवादास्पद अज्ञान ज्ञान मात्र ब्रह्म का अवरक नहीं है, क्योंकि वह अज्ञान है, शुक्ति आदि के विषय में होने वाले अज्ञान के समान। वह अप-

ने विषय का ही आवरक होता है। [३] विवादास्पद अज्ञान-केवल ज्ञान के द्वारा ही निर्वतित [विनष्ट] नहीं होता है क्योंकि ज्ञान के विषय को आवृत नहीं करता है। जिस अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा होती है वह ज्ञान के विषय को आवृत नहीं करता है। जिस अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा होती है यह ज्ञान के विषय का आवरक होता है, जैसे शुक्ति आदि का आवरण। [यह अज्ञान तो वैसा है नहीं।][४] ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है, क्योंकि उसमें ज्ञातृत्व नामक धर्म नहीं है। घट आदि के समान। अद्वैत सिद्धान्त में माना जाता है कि जो अज्ञान का आश्रय होता है वही ज्ञाता होता है।

जीवों में प्रतीय मान ज्ञातृत्व स्वाभाविक न होकर अज्ञानकृत है।) (५) ब्रह्म को अज्ञान आवृत नहीं कर सकता है, क्योंकि वह ज्ञान का विषय नहीं है। जो अज्ञान का आवरक होता है, वह ज्ञान का विषय होता है। जैसे शुक्ति आदि। (६) ब्रह्म ज्ञान निवर्त्य अज्ञान का विषय नहीं हो सकता है; क्योंकि (आपके सिद्धान्त में) वह ज्ञान का विषय नहीं माना जाता है। जो ज्ञान निवर्त्य अज्ञान का विषय बनता है, वह ज्ञान का भी विषय होता है, जैसे शुक्ति आदि। (७) विवादास्पद अज्ञान अपने प्राग-भाव से अतिरिक्त अज्ञान पूर्वक नहीं होता है। क्योंकि वह प्रमाण ज्ञान है, अद्वैती विद्वानों के अभिमत अज्ञान के साधक

प्रमाणज्ञान के समान । (जिस तरह प्रमाण ज्ञान होने के कारण वह अपने उत्पति के पहले अपने प्रागभाव से अतिरिक्त ज्ञान पूर्वक नहीं होता है भावरूप अज्ञान पूर्वक नहीं होता हैं उसी तरह विवाद का विषय भूत प्रमाण ज्ञान भी अपनी उत्पत्ति के पहले अपने प्रागभाव से अतिरिक्त भावरूप अज्ञान पूर्वक नहीं हो सकता है ।) (८) ज्ञान वस्तु (भावपदार्थ का विनाशक नहीं हो सकता है, क्योंकि शक्तिविशेष के उपवृंहण से रहित ज्ञान होता है । (अत एव वस्तुओं का विनाशक केवल ज्ञान नहीं हो सकता है ।) क्योंकि देखा जाता है कि जो वस्तुओं का विनाशक होता है वह चाहे ज्ञान हो अथवा अज्ञान किन्तु वह शक्ति विशेष से उपवृंहित अवश्य होता है । जैसे ईश्वर का वस्तुओं के नाश हेतु किया हुआ संकल्प रूपी शक्ति से युक्त ज्ञान । ऐसे ही योगियों के भी वस्तुओं के नाश के लिये किये गये संकल्प शक्ति से युक्त ज्ञान होते हैं । ऐसे ही अज्ञान रूप मुद्गर आदिभी शक्ति विशेष से युक्त ही होने के कारण घटादि वस्तुओं के विनाशक होते हैं । वह ज्ञान अस्मदादि का ज्ञान है वह भाव पदार्थ का विनाशक नहीं हो सकता है । (९) भावरूप अज्ञान का विनाश ज्ञान के द्वारा नहीं हो सकता है, क्योंकि वह भावपदार्थ है, (ज्ञानमात्र से नहीं निवर्तित [नष्ट] होने वाले) घटादि के समान ।

टिप्पणी—यहाँ पर नव अनुमान किये गये हैं। अद्वैती विद्वानों ने अपने अनुमान में कहा था कि प्रमाण ज्ञान स्वदेशगत् स्वविषयावरण, स्वनिवर्त्य, स्वप्रागभावव्यतिरिक्त वस्त्वन्तर पूर्वक होता है। इनमें स्वदेशगतत्व, स्वविषयावरणत्व, एवं स्वनिवर्त्यत्व के विरोधी अज्ञान को पक्ष वनाकर प्रथम तीन अनुमान किये गये हैं। पहले अनुमान में वतलाया गया है कि अज्ञान का आश्रय ब्रह्म नहीं हो सकता है। यह स्वदेशगतत्व का विरोधी अनुमान है। दूसरे अनुमान में वतलाया गया है कि अज्ञान ब्रह्म का आच्छादक नहीं हो सकता है। इस अनुमान के द्वारा स्वविषयावरणत्व का विरोधी अनुमान उपस्थित किया गया है। और तीसरे अनुमान में स्वनिवर्त्यत्वका विरोधी अनुमान करते हुए कहा गया है कि अज्ञानज्ञानमात्र निवर्त्य नहीं है। ब्रह्म को पक्ष वनाकर चौथे अनुमान में कहा गया है कि यदि ब्रह्म अज्ञान का आश्रय होगा तो उसमें ज्ञातृत्व आदि को स्वीकार करना होगा। पाँचवें और छठे अनुमान में वतलाया गया है कि अज्ञान को ब्रह्म का आवरक मानने पर अथवा ब्रह्मज्ञान को अज्ञान का निवर्तक मानने पर ब्रह्म में ज्ञेयत्वापत्ति होगी। शेष तीन अनुमान प्रमाण ज्ञान को पक्ष वनाकर कहे गये हैं।

मू०—अथोच्येत-बाधकज्ञानेन पूर्वज्ञानोत्पन्नानां भयादीनां विनाशोदृश्यते-इति। नैवम् नहि ज्ञानेन तेषां विनाशः, क्षणिकत्वेन तेषां स्वयमेवविनाशात् कारणनिवृत्त्या च पश्चादनुत्पत्तेः। क्षणिकत्वं च तेषां ज्ञानवदुत्पत्तिका

रणसन्निधान एवोपलब्धेः; अन्यथाऽनुपलब्धेश्चावगम्यते। अक्षणिकत्वेच भयादीनां भयादिहेतुभूतज्ञानसन्ततावाविशेषेणसर्वेषांज्ञानानां भयाद्युत्पत्तिहेतुत्वेनानेकभयोपलब्धि प्रसङ्गाच्च।

अनुवाद–यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि रस्सी को देखकर जब सर्प का भय उत्पन्न होता है, तो वह भय तो एक भाव पदार्थ है किन्तु वस्तु की वास्तविक प्रतीतिजन्य बाधक ज्ञान के द्वारा उस पहले उत्पन्न भयादि का बाध हो जाता है; तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। ज्ञान के द्वारा उन भयादिकों का विनाश नहीं होता है, अपितु वे भयादि ज्ञान क्षणिक हैं अतएव उनका स्वयं विनाश हो जाता है। और भयादि के कारण निवृत्त हो जाने के कारण भी उनको पुनः उत्पत्ति नहीं हो पाती है। [कहने का आशय है कि दुख भयादि ज्ञान स्वरूप हैं। और ज्ञान स्वरूपतः क्षणिक होते हैं, अतएव द्वितीय आदि क्षण में उनका स्वयं नाश हो जाता है। और भ्रम रूपी भय के कारण की निवृत्ति होने के कारण तत्कार्यभूत भयादि की अनुवृत्ति नहीं होती है।

जिस तरह क्षणिक ज्ञान अपनी उत्पत्ति के कारण के सन्निधान रहने पर ही उपलब्ध होता है उसी तरह क्षणिक भयादि अपनी उत्पत्ति के कारण के सन्निधान रहने पर ही उपलब्ध होते हैं। किञ्च जिस तरह कारण सन्निधान के अभाव में

ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है, उसी तरह कारण सन्निधान के अभाव में भयादि की भी उपलब्धि नहीं होती है। यदि भय आदि को क्षणिक नहीं माना जाय तो फिर भय आदि के कारण स्वरूप जो भ्रामज्ञान का प्रवाह उसमें समानता होने के कारण सभी ज्ञानों के भय आदि के हेतु होने के कारण समकाल में ही अनेक भयों की उपलब्धि का प्रसङ्ग होगा।

टिप्पणी–कारणनिवृत्त्याच पश्चादनुत्पत्तेः का आशय है कि-भय के कारण भूत भ्रम की निवृत्ति हो जाने के कारण, तत्कार्य-भूत भयादि की सदा उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि स्थायी ही घटादि दण्ड, चक्र, चीवर आदि के असन्निहित होने पर भी उपलब्ध होते हैं। किन्तु ज्ञान, दीप ज्वाला आदि की तो स्थिति ऐसी होती नहीं है। इसी तरह से यह देखकर कि भय का कारण भ्रम जब तक रहता है तब तक भय रहता है किन्तु भ्रम के नष्ट हो जाने पर भयादि का भी नाश हो जाता है अत एव भयादि क्षणिक सिद्ध होते हैं। अक्षणिकत्वे-इत्यादि वाक्य का आशय है कि प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाले ही अनेक घटादि समकाल में ही उपलब्ध होते हैं। ज्ञान एवं भयादि को भी स्थायी माननेपर समकाल में ही आनेकों ज्ञान तथा अनेकों भयों की उपलब्धि का प्रसङ्ग होगा। अत एव भय आदि की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा न मानकर स्वयं ही क्षणिक होने के कारण मानना चाहिये।

मू०—स्वप्रागभाव व्यतिरिक्त वस्त्वन्तरपूर्वकमिति व्यर्थविशेषणोपादानेनप्रयोग कुशलता चाविष्कृता; अतोऽनुमानेनाऽपिनभावरूपाज्ञानसिद्धिः। श्रुतितदर्थापत्तिभ्यामज्ञानासिद्धिरनन्तरमेव वक्ष्यते। मिथ्यार्थस्य मिथ्यैवोपादानं भवितुमर्हतीत्येतदपि 'न विलक्षणत्वात्' इत्यधिकरणन्यायेन परिहृयते। अतोऽनिर्वचनीयाज्ञानविषया न काचिदपि प्रतीतिरस्ति। प्रतीतिभ्रान्ति बाधैरपि न तथाभ्युपगमनीयम्। प्रतीयमानमेव हि प्रतीतिभ्रान्ति बाधविषयः। आभिः प्रतीतिभिः प्रतीत्यन्तरेण चानुपलब्धमासां विषय इति न युज्यते कल्पयितुम्।

अनुवाद– किञ्च अद्वैती विद्वानों ने अपने अनुमान के प्रतिज्ञा वाक्य में प्रमाण ज्ञान का विशेषण, स्वप्रागभावव्यतिरिक्तवस्त्वन्तर पूर्वक दिया है। विशेषण के 'स्वशब्द, प्राक्शब्द, अभाव व्यतिरिक्त शब्द तथा अन्तर शब्द व्यर्थ ही हैं। इसका वस्तु शब्द ही भाव का वाचक है। इस व्यर्थ विशेषणोपादान के द्वारा उनके अनुमानज्ञान की अनभिज्ञता को ही सूचना मिलती है। यतएव अनुमान के द्वारा भी भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है। शब्द प्रमाण एवं अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा भी भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है यह हम आगे ही कहेंगे। किञ्च मिथ्यावस्तु जगत् का उपादान कारण

मिथ्या अज्ञान ही होता है, अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन 'नविलक्षणत्वात्' (२।१।४) इस अधिकरण में कहे गये न्याय के अनुसार हो जाता है। इस अधिकरण में शांकर भाष्य में भी कार्य कारण भाव के स्वभाववैलक्षण्य को स्वीकार किया गया है अतएव सदसदनिर्वचनीय अज्ञान विषयक (प्रमा अथवा भ्रान्ति) इन दोनो में से किसी भी प्रकार का प्रतीति नहीं हो सकती है। अज्ञान की प्रतीति, भ्रान्ति और वाध के द्वारा भी उसे अनिर्वचनीय नहीं स्वीकार किया जाना चाहिये।

किञ्च अद्वैती विद्वान् अज्ञान को क्यों अनिर्वचनीय मानते हैं ? इसलिए कि प्रतीति, भ्रान्ति और वाध अपने विषय भूत अज्ञान का उल्लेख मात्र ही किया करते है ? अथवा अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा ? तो पहले पक्ष को तो इसलिए नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि) प्रतीयमान वस्तु प्रतीति भ्रान्ति और वाध के विषय वनते हैं। दूसरा पक्ष इसलिए नहीं स्वीकार किया जासकता है कि प्रतीति भ्रान्ति एवं भ्रम शव्द से कही गयी प्रत्यक्ष प्रतीतियों के द्वारा और आश्रय जन्य प्रतीति के द्वारा भी इनके (प्रतीति भ्रान्ति और वाधक के) विषय भूत अनिर्वचनीय की उपलब्धि नहीं होती है। अथवा इन लौकिक प्रतीतियों तथा शास्त्र जन्यज्ञान के द्वारा भी इनके विषय सदसद् अनिवचनीय अज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है। अथवा एक ही रस्सी रूपी अधिष्ठान में सर्प भूदलन, अम्वुधारा रूप अनेक प्रतीतियों तथा उनके वाध ज्ञान के द्वारा भी इनके विषय

सदसदनिर्वचनीय अज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है। अतएव उपर्युक्त अज्ञान के सदसदनिर्वचनीयत्व की कल्पना नहीं की जा सकती है।

मूल—शुक्तयादिषु रजतादि प्रतीतेः, प्रतीतिकालेऽपि तन्नास्तीति बाधेन च, अन्यस्यान्यथा भानायोगाच्च, सदसन्निर्वचनीयमपूर्वमेवेदं रजतं दोषवशात् प्रतीयते, इति कल्पनीयम् इतिचेत् न– तत्कल्पनायामपि अन्यस्यान्यथाभानस्य अवर्जनीयत्वात्। अन्यभानाभ्युपगमादेव ख्याति प्रतीति बाधभ्रमात्वानाम् उपपत्तेः, अत्यन्तापरिदृष्टाकारणक वस्तुकल्पनायोगात्।

अनुवाद – यदि अद्वैतीविद्वान् यह कहें कि चूंकि भ्रमकाल में शुक्ति आदि में ही रजत आदि की प्रतीति होती है, और प्रतीति के समय में भी यह शुक्ति है. रजत नहीं है, इस प्रकार से प्रतीति का वाध होता है तथा चूंकि अन्य वस्तु की अन्य रूप से प्रतीति संभवः नहीं है इसलिये यह कल्पना करना चाहिये कि सीपी में प्रतीयमान रजत जो है, वह सदसद् अनिर्वचनीय है, यह अपूर्व रजत है तथा उसकी सीपी में प्रतीति दोष के ही कारण हो रही है। तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि अनिर्वचनीय रजत की कल्पना में भी अन्य वस्तु की अन्यथा प्रतीति होती है। क्योंकि वह सीपी ही रजत के रूप में प्रतीत होती है, अतएव आप यह जो

कहते हैं कि अन्य वस्तु की अन्यथा प्रतीति चूंकि नहीं हो सकती है, अतएव अनिर्वचनीय रजत की ही कल्पना अपेक्षित है, यह ठीक नहीं है। अन्य वस्तु को अन्यथा स्वीकार करने के ही कारण शुक्ति की रजत रूप से ख्याति (प्रतीति) और उसको लेने के लिये प्रवृत्ति पुनः यह रजत नहीं सीपी है, इस प्रकार की प्रतीति होने पर उसका बाध होने पर ही उसके भ्रमत्व की की सिद्धि हो पाती। ऐसा इसलिए होता है कि जो वस्तु कहीं देखी नहीं गयी है, तथा जिसका कोई कारण नहीं है उसकी कल्पना नहीं की जा सकती है।

टिप्पणी–शुक्त्यादिषु–इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि शुक्ति रजत के भ्रमस्थल में प्रतीयमान रजत को सत्य इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि जिस समय यह रजत है, इस प्रकार का ज्ञान होता है, उसी समय उसको हाथ से उठाकर देखने पर प्रतीत होता है कि यह रजत नहीं सीपी है। अतएव ज्ञान का बाध होता है जो वस्तु सत्य होती है उसका बाध नहीं होता और जिस वस्तु की प्रतीति होती है उसको असत्य नहीं कहा जा सकता है। असत्य बन्ध्या पुत्र की प्रतीति नहीं होती है। इस तरह सत्य और असत्य इन दोनों प्रकार की वस्तुओं से भिन्न होने के ही कारण रजत सदसदनिर्वचनीय है यह शुक्ति रजत के भ्रमस्थल में कल्पना करनी चाहिये।

मूल—कल्प्यमानं हीदं अनिर्वचनीयं न तावत् अनिर्वचनीय मिति प्रतीयते, अपि तु परमार्थं रजतमित्येव। अनि-

र्वचनीयमित्येव प्रतीतं चेत्, भ्रान्ति बाधयोः प्रवृत्तेरप्य सभवः। अतः अन्यस्यान्यथाभानविरहे प्रतीतिप्रवृत्ति-भ्रमत्वानामनुपपत्तेः तस्यापरिहार्यत्वाच्च शुक्त्यादिरेव रजताकारेणावभासते इति भवताऽभ्युपगन्तव्यम्।

अनुवाद–किञ्च जिस रजत की आप अनिर्वचनीय रूप से कल्पना कर रहे हैं वह तो प्रतीतिकाल में अनिर्वचनीय रूप से प्रतीत होता नहीं है अपि तु उसकी प्रतीति तो परमार्थ रजत रूप से ही होती है। यदि आप कहें कि उस समय उसकी अनिर्वचनीय रूप से ही प्रतीत होती है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर उसकी प्रतीति, बाध और प्रवृत्ति नहीं हो सकते हैं। अतएव अन्य वस्तु की अन्य रूप से प्रतीति हुए बिना प्रतीति, प्रवृत्ति बाध और भ्रम की सिद्धि नहीं हो सकती है! अतएव अन्यथावभासको हटाया (अस्वीकार) नहीं जा सकता है। फलतः आपको यह स्वीकार करना चाहिए कि शुक्ति आदि ही रजत रूप से प्रतीति होते हैं।

मूल—ख्यात्यन्तरवादिनाञ्च सुदूरमपि गत्वा अन्यथावभासोऽवश्याश्रयणीयः:—असत्ख्यातिपक्षे सदात्मना, आत्मख्यातिपक्षेऽर्थात्मना, अख्यातिपक्षेऽपि अन्यविशेषणमन्य विशेषणत्वेन, ज्ञानद्वयमेकत्वेन चा, विषयासद्भावपक्षेऽपि विद्यमानत्वेन।

अनुवाद-यथार्थख्याति तथा अन्यथाख्याति पक्ष को छोड़

कर अन्य प्रकार की ख्यातियों को मानने वालों को भी अपनी पदक परम्परा बतलाकर अन्य वस्तु को अन्यथा प्रतीति अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ती है। क्योंकि असत् (माध्यमिक बौद्धों के) ख्याति पक्ष में भी असत् वस्तु सद्रूप से प्रतीति होती यह स्वीकार किया जाता है। सर्व शून्यवादी माध्यमिक बौद्धों से यह पूछने पर कि भ्रमस्थल में रजत की असत् रूप से प्रतीति होती है अथवा सत रूप से? वे यदि असत् रूप से ही प्रतीति मानें तो फिर वहां भ्रमत्व, उसका बाध तथा प्रवृत्ति नहीं होंगे। यदि सत् रूप से मानें तो यही मानना होगा कि वह अन्यथाप्रतीति मात्र है।) आत्मख्यातिवादी (योगाचार बौद्धों) के मत में (आत्मा शब्द ज्ञान का वाचक है। अतएव उनसे पूछना है कि क्या ज्ञान रूप से ही प्रतीति उक्त भ्रम स्थल में होती है अथवा विषय रूप से? भ्रमत्व बाध एवं प्रवृत्ति के संभव न होने से प्रथम प्रक्ष को नहीं स्वीकार किया जा सकता है। यदि विषय रूप से प्रतीति मानी जाय तब तो अन्यथावभास स्वीकार हो ही गया। किञ्च जिनके मत में शुक्तिरजत भ्रमस्थल में ख्याति (प्रतीति) का अभाव माना जाता है उनके भी मत में अन्यथा प्रतीति नहीं होती है, उनके भी मत में रजत का अभेद रूप विशेषण रजत में नहीं होता है; अपि तु शुक्ति में होता है। अतएव अख्याति पक्ष में भी अन्यथा प्रतीति की आवश्यकता होती है। पुरुष पहले पुरोवर्ति शुक्ति को देखता है दूरादि दोष के कारण शुक्ति और रजत का भेद प्रतीति नहीं होता है और सादृश्यादि दोष के कारण

शुक्ति और रजत का भेद प्रतीत नहीं होता है। पुनः सादृश्यादि दोष के कारण रजत का स्मरण होता है। अतः शुक्ति रजत स्थल में शुक्ति का चाक्षुष् प्रत्यक्ष और रजत का स्मरण होता है अतएव भ्रम स्वरूप दो ज्ञान होते हैं। इन दोनों ज्ञानों का प्रकाश एक ज्ञान से होता है। दानों ज्ञानों का एक ज्ञान के रूप में प्रकाश होने के कारण अन्यथावभास अख्याति वादियों को भी स्वीकार करना चाहिए। विषयों को असत् रूप से मानने वालों को भी विषय का सद्भाव रूप अन्यथावभास स्वीकार करना ही होगा।

मूल—किञ्च- अनिर्वचनीयमपूर्वरजतमत्रजातमिति वदता तस्यजन्मकारणं वक्तव्यम्! न तावत् तत्प्रतीतिः तस्याः तद्विषयत्वेन तदुत्पत्तेः प्रागात्मलाभायोगात्। निर्विषया जातातदुत्पाद्य तदेव विषयीकरोतीति महतामिदमुपपादनम्। अर्थेन्द्रियादिगतो दोषः—तन्न; तस्य पुरुषाश्रयत्वेन अर्थगतकार्यस्य उत्पादकत्वायोगात्। नापीन्द्रियाणि, तेषां ज्ञानकारणत्वात्। नापि दुष्टानीन्द्रियाणि; तेषामपि स्वकार्यभूते ज्ञान एव हि विशेषकरत्वम्; अनादिमिथ्याज्ञानोपादानत्वं तु पूर्वमेव निरस्तम्।

अनुवाद- किञ्च अद्वैती विद्वान् जो यह कहते हैं कि 'शुक्ति रजत' भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय, अपूर्व रजत उत्पन्न हो जाता है, तो यहाँ पर यह जिज्ञास्य है कि उस अनिर्वचनीय रजत के जन्म का कारण क्या है? उसकी प्रतीति तो हो नहीं सकती

है क्योंकि वह तो अनिर्वचनीय रजत को ही अपना विषय बनाती है, अतएव वह उससे पहले रह नहीं सकती है। और कारण को कार्य से पहले होना अनिवार्य होता है। यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि पहले निर्विषयक प्रतीति होती है पुनः वह रजत को उत्पन्न करके उसी को अपना विषय बना लेती है तो ऐसी अबद्ध बात तो अद्वैती विद्वान जैसे ही बड़े लोग कह सकते हैं। क्योंकि उनके भी सिद्धान्त में वृत्तिज्ञान की विषय रहितावस्था नहीं स्वीकार की जाती है। यदि कहें कि इन्द्रियों के दोष, आदि (विषयगत दोष अथवा पुरुष की अनवधानता) ही उस रजत के उत्पादक हैं तो यह भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि इनका तो आश्रय पुरुप है अतएव ये विषय में कैसे कार्य उत्पन्न (अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति) कर सकते हैं ? इनका तो जो कार्य होगा वह पुरुष में ही होगा। स्वयं इन्द्रियाँ भी उस रजत की जनिका नहीं हैं क्योंकि वे तो ज्ञान के जनक हैं। दोष दूषित इन्द्रियाँ भी उस रजत की जनिका नहीं, क्योंकि वे तो अपने कार्यभूत ज्ञान में ही कोई विशेषता ला सकती हैं। यदि मिथ्या ज्ञान को अनिर्वचनीय रजत का उपादान कारण मानें तो यह भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि पहले ही यह बतलाया जा चुका है कि अनादि अविद्या का कार्य भी पहले ही हो चुका होगा। दूसरी यह बात कि मिथ्या अज्ञान का अर्थक्रियाकारित्व संभव नहीं। तिसरी बात यह है कि उस अज्ञान का न तो ब्रह्म आश्रय सिद्ध हो सकता और न तो जीव ही। अतएव अज्ञान भी रजत का उत्पादक नहीं सिद्ध हो सकता है।

मूल—किञ्च- अनिर्वचनीयमिदं वस्तुजातं रजतादिबुद्धि-
शब्दाभ्यां कथमिव विषयीक्रियते; न घटादि बुद्धिशब्दा-
भ्याम् रजतादिसादृश्यादिति चेत् ? तर्हि तत्सदृशमि-
त्येव प्रतीतिशब्दौ स्याताम्, रजतादिजातियोगादिति
चेत् सा किं परमार्थभूता ? अपरमार्थभूतावा ? न
तावत् परमार्थभूता, तस्यां अपरमार्थान्वयायोगात् ।
नाप्यपरमार्थभूता परमार्थान्वयायोगात् । अपरमार्थे
परमार्थबुद्धि शब्दयोर्निर्वाहकत्वायोगाच्चेत्यलमपरिणत
कुतर्क निरसनेन ।

यदि किसी तरह अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति को मान भी ली जाय तो मैं यह पूछता हूं कि यह अपूर्व एवं अनिर्वच-नीय वस्तु समुदाय, इस प्रकार की वस्तु को रजतादि शब्द और बुद्धि ही अपना विषय क्यों बनाते हैं ? घटादि शब्द और घटादिबुद्धि उसको अपना विषय क्यों नहीं बनाते हैं ? यदि कहे कि रजतादि सादृश्य के कारण उसमें रजतादि बुद्धि और शब्द का व्यवहार होता है तो यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि तब तो यह रजत के सदृश अनिर्वचनीय रजत है, इस शब्द का व्यवहार तथा ऐसी ही बुद्धि का विषय बनता । यदि कहें कि उस अपूर्व रजत में रजतत्त्व जाति है, अतः रजतत्वावच्छिन्न होने के कारण यह रजतादि बुद्धि और शब्द का विषय बनता है तो यहाँ जिज्ञास्य

है कि वह जाति परमार्थ है ? या अपरमार्थ है ? उसे परमार्थ (वास्तविक) इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि तब फिर उसका अपरमार्थ अनिर्वचनीय रजत से सम्बन्ध नहीं हो सकता है । उसे अपरमार्थ इसलिये नहीं कह सकते हैं कि यदि वह अपरमार्थ होती तो फिर उसका अपरमार्थ अनिर्वचनीय रजत से भिन्न परमार्थ रजत से सम्बन्ध नहीं होता । किञ्च–अपरमार्थ अनिर्वचनीय रजत में परमार्थ बुद्धि और शब्द के निर्वाह करने की शक्ति भी नहीं है अतएव भी वह रजत बुद्धि और शब्द का विषय नहीं हो सकता । इस तरह अपुष्ट कुतर्कों का अत्यधिक खण्डन करने से कोइ लाभ नहीं है ।

॥ सत्ख्यातिपक्ष का समर्थन ॥

अथवा–

'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम् ।
श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीतितः ॥
बहुस्यामितिसङ्कल्प-पूर्वसृष्ट्याद्युपक्रमे ।
तासां त्रिवृतमेकैकामिति श्रुत्यैव चोदितम् ॥
त्रिवृत्करणमेवं हि प्रत्यक्षेणोपलभ्यते ।
यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तदपामपि ॥
शुक्लं कृष्णं पृथिव्याश्चेत्यग्नावेव त्रिरूपता ।
श्रुत्यैव दर्शिता तस्मात् सर्वं सर्वत्र सङ्गताः ।।

पुराणे चैवमेवोक्तं वैष्णवे सृष्ट्युपक्रमे ।
नानावीर्याः पृथग्भूताः ततस्ते संहतिं विना ॥
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुं असमागम्य कृत्स्नशः ।
समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः ॥
महदाद्याः विशेषान्ताः ह्यण्डमित्यादिना ततः ।
सूत्रकारोऽपि भूतानां त्रिरूपत्वं तथाऽवदत् ॥
त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् इति तेनाऽभिधा भिदा ।
सोमाभावे च पूतीक-ग्रहणं श्रुतिचोदितम् ॥
सोमावयवसद्भावात् इतिन्यायविदोविदुः ।
व्रीह्यभावे च नीवारग्रहणं व्रीहिभावतः ॥
तदेवसदृशं तस्य यत्तद्द्रव्यैकदेशभाक् ।
शुक्त्यादौ रजतादेश्च भावः श्रुत्यैव बोधितः ॥
रूप्यशुक्त्यादिनिर्देशभेदो भूयस्त्व हेतुकः ।
रूप्यादि सदृश्चायं श्रुत्यादिरुपलभ्यते ॥
अतस्तस्यात्र सद्भावः प्रतीतेरपि निश्चितः ॥
कदाचिच्चक्षुरादेस्तु दोषात् शुक्त्यंशवर्जितः ।
रजतांशो गृहीतोऽतो रजतार्थी प्रवर्तते ।
दोषहानौतुशुक्त्यंशे गृहीते तन्निवर्तते ॥
अतो यथार्थं रूप्यादिविज्ञानं शुक्तिकादिषु ।

बाध्याबाधकभावोऽपिभूयस्त्वेनोपपद्यते ॥
शुक्तिभूयस्त्ववैकल्यसाकल्यग्रहरूपतः ।
नातोमिथ्यार्थसत्यार्थविषयत्व निबन्धनः ॥
एवं सर्वस्य सर्वत्वे व्यवहारव्यवस्थितिः ॥

संगति–विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में यथार्थख्याति ही स्वीकार की जाती है। अतएव उसका स्वसिद्धान्तत्व प्रतिपादन करते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं कि अथवा इत्यादि–

अनुवाद–वेदों के जानकार (भगवान बोधायन, श्रीनाथमुनि) आदि का मत है कि सभी ज्ञान यथार्थविषयक ही होते हैं, क्योंकि श्रुतियों एवं स्मृतियों के परमार्थ पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि सभी वस्तुओं में सभी वस्तुएं मिली हुई हैं। 'बहुस्याम्' (छा० ६।२।३) श्रुति सृष्टि के उपक्रम वाले प्रकरण में सर्व प्रथम पढ़ी गयी है। इसका अर्थ है कि उस अविभक्त नाम रूप वाले परब्रह्म ने सत्य संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊं। (अर्थात् इस अविभक्त नाम रूप वाले जगत् को विभक्त नाम रूपवाला बनाऊं। तदर्थ परब्रह्म ने पृथिवी, जल तथा तेज की सृष्टि की। और सृष्टि के लिये उपयोगी उसने संकल्प किया कि उन पृथिवी, जल और तेज प्रत्येक को त्रिवृत करूं (छा० ६।३।३) यह श्रुति ही बतलाती है। (यह त्रिवृत्करण प्रक्रिया पञ्चीकरण प्रक्रिया का उपलक्षण है अतएव पञ्चीकरण प्रक्रिया के अनुसार सभी वस्तुओं में सभी वस्तुओं का सांकर्य है।)

पञ्चीकरण प्रत्यक्षतः उपलब्ध होता है। अग्नि में जो लाल रूप दिखायी देता है वह तेज का रूप है, जो उजला रूप दिखायी देता है; वह जल का रूप है और जो काला रूप दिखायी देता है, वह पृथिवी का रूप है। इस तरह अग्नि में ही तीन रूप पायेजाते हैं। यह छान्दोग्योपनिषत् की श्रुति ही वतलाती है। अतएव सिद्ध होता है कि सभी भूत सभी भूतों में मिले हुये हैं।

किञ्च श्री विष्णु पुराण (१।२।५२-५३-५४) मे सृष्टि के उपक्रम में भी यही वात वतलायी गयी है। भगवान् के वीर्य स्वरूप पाञ्चों महाभूत सृष्टि से पहले अलग–अलग थे अतएव इसके पश्चात वे पृथक पृथक् वने रहने के योग्य संयोगमात्र स्वरूप संघातरूपता एवं पृथक्–पृथक् न रह सकने के अनुरूप समागतत्व के अभाव में प्रजाओं की सृष्टि करने में असमर्थ थे। परस्पर में पृथक स्थित्यनुकूल संहतत्वावस्था रूप संयोग को पाकर जब वे पृथक् स्थित्यनर्ह समागतत्वावस्था में आकर आपस में घुल–मिल गये तो फिर उनसें महत् तत्त्व से लेकर विशेष पर्यन्त सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई। इस अर्थ के श्रुतियों एवं स्मृतियों के अनुकूल होने के कारण ही सूत्रकार भी (त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्) इस सूत्र में भूतों का त्रिरूपत्व वतलाये हैं। (यदि कहो कि सभी वस्तुओं में यदि सभी वस्तुएं मिली हुई हैं तो फिर तत् तत् वस्तुओं का तत् तत् नामों से कैसे अभिधान होता है? तो इस का उत्तर है कि जो वस्तु जिस नाम से अभिहित होती है उस वस्तु में उसका अपना आधा भाग तथा तद्व्यतिरिक्त सभी वस्तुओं

का मिश्रित आधा भाग रहता है) उस स्वांश भूयस्त्व के कारण ही वस्तु का भिन्न-भिन्न नामों से अभिधान होता है। सोमाभावे० इत्यादि-सोम रसके अभाव में जो शास्त्रों ने पूतीक ग्रहण का विधान किया है, वह इसलिए कि उसमें सोमरस के अवयव विद्यमान् रहते हैं, यह शास्त्रीय न्यायों के जानकारों का कथन है। व्रीह्य भावेत्र-इत्यादि शास्त्रों में व्रीहि के अभाव में जो नीवार ग्रहण का विधान किया गया है वह इसलिये कि नीवार में व्रीहि के अवयवों का सद्भाव रहता है। वही वस्तु किसी दूसरी वस्तु के सदृश होती है जो उस वस्तु का कोई एक अङ्ग होती है। शुक्त्यादौ०-शुक्ति आदि में रजत आदि की सत्ता का प्रतिपादन स्वयं श्रुति ही करती है। हां शुक्ति से रजत का भेद निर्देश इसलिए होता है कि शुक्ति में शुक्ति अधिक मात्र में रहती है तथा रजत अल्प मात्रा में रहता है। और यह शुक्ति आदि भी रजत आदि के समान प्रत्यक्षतः उपलब्ध होते हैं। अतएव प्रतीति (प्रत्यक्ष) के द्वारा भी शुक्ति आदि में रजत आदि का सद्भाव निश्चित होता है। (अब प्रश्न यह उठता है कि यदि शुक्ति में भी रजत का अंश विद्यमान रहता है तो फिर सदा उसका रजत रूप से ही ग्रहण क्यों नहीं होता कि उसकी कभी-कभी ही रजत रूप से प्रतीति तदनन्तर प्रवृत्ति और उस प्रतीति का बाध होता होता है? इसका उत्तर देते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं।

कदाचित् इत्यादि-भ्रम तो इस लिए होता है कि कभी-कभी नेत्रादि इन्द्रियों के दोष के कारण शुक्ति के अंश का ग्रहण नहीं होकर केवल तद्गत रजतांश का ही ग्रहण हो जाता है। अत

एवं रजत को चाहने वाला व्यक्ति उसे रजत समझकर उठाना चाहता है और ज्योंहि नेत्रादि के दोष नष्ट हो जाते हैं उसी समय वह उसको (शुक्ति को) त्याग देता है। अतएव शुक्ति आदि में जो रजत का ज्ञान होता है वह यथार्थ ही ज्ञान है क्यों-कि रजत को सत्ता शुक्ति में अल्प मात्रा में रहती ही है। जब यह ज्ञान होता है कि पुरोवर्ती द्रव्य में शुक्ति का ही अंश अधिक है और रजत का अंश अल्प है तो फिर शुक्ति अंश भूयस्त्व रूप बाधक ज्ञान के द्वारा रजत भूयस्त्व ज्ञान बाधित हो जाता है अतएव दोनों ज्ञानों का बाध्य बाधकभाव भी उप-पन्न हो जाता है। जिस ज्ञान में शुक्तिभूयस्त्व ज्ञान का अभाव रहता है वह ज्ञान बाध्य होता है और जिस ज्ञान में शुक्ति भूय-स्त्वज्ञान बना रहता है वह ज्ञान बाधकज्ञान होता है। इस तरह भ्रम का निर्वाह वस्तुओं के साकल्य और वैकल्य (सद्भाव और असद्भाव) द्वारा हो जाता है, वस्तुओं के सत्यत्व और मिथ्या त्वके कारण भ्रम की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है, इस तरह सभी वस्तुओं के सर्वात्मक होने के कारण सभी व्यवहारों की व्यवस्था बन जाती है।

टिप्पणी—सत्ख्याति पद में ख्याति पद प्रतीति का वाचक है। अतएव सत्ख्याति पद का अर्थ है कि शुक्ति रजत आदि भ्रम के स्थल में जो भ्रम होता है; उसमें भी शुक्ति आदि का जो रजत आदि रूप से प्रतीति होती है, वह इसलिए होती है कि शुक्ति में रजतांश की मात्रा बनी रहती है। रजतांश बिल्कुल नहीं हो और उसमें

रजत का भ्रम हो ऐसी बात नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में पञ्चीकरण प्रक्रिया के उपलक्षणभूत त्रिवृतकरण प्रक्रिया का वर्णन है। उक्त प्रकरण में 'ऐक्षत' इत्यादि श्रुति बतलाती है कि परंब्रह्म ने सृष्टि से पूर्व सत्यसंकल्प रूपी इच्छा किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ। तदर्थं परमात्मा ने अपने सत्य संकल्प के द्वारा पृथिवी जल एवं तेज की सृष्टि की। किन्तु इससे भी सृष्टि नहीं हो रही थी तो परमात्मा उक्त तीनों भूतों को एक में परस्पर में सांकर्यरूप त्रिवृत्त करने का सत्य संकल्प किया। इस अर्थ को "तासां त्रिवृतमेकैकाम् इत्यादि श्रुति बतलाती है। छान्दोग्योपनिषद् में इस त्रिवृत-करण का प्रत्यक्ष प्रमाण देते हुए उक्त उपनिषद् में बतलाया गया है कि अग्नि में जो लालिमा दिखायी देती है वह तेज का रूप है, जो उजलापन प्रतीत होता है वह जल का रूप है और जो कालिमा प्रतीत होती है वह पृथिवी का रूप है। यह त्रिवृतकरण पञ्चीकरण का उपलक्षण है। पञ्चीकरण का वर्णन करते हुए श्री विष्णु पुराण में बतलाया गया है कि सभी भूतों को जब परमात्मा ने सृष्टि की तो अलग-अलग रहकर उन महाभूतों से प्रजाओं की सृष्टि न हो सकी अतएव परमात्मा ने अपने सत्य संकल्प के द्वारा पञ्चीकरण रूप महा-भूतों के सांकर्य को किया। अत एव सभी वस्तुओं में सभी वस्तुओं की विद्यमानता ज्ञात होती है।

पञ्चीकरण प्रक्रिया के अनुसार सभी भूतों में अपना अंश

आधा और भूतान्तरों का १/८ अंश विद्यमान रहता है। जैसे-

पृथिवी = १/२ पृथिवी + १/८ जल + १/८ तेज + १/८ वायु + १/८ आकाश है। इस तरह भूतान्तरों का भी पञ्चीकरण समझना चाहिये।

नानावीर्याःपृथग्भूताः–इत्यादि श्लोक में 'संहतिं विना' और असमागम्य पद एक ही अर्थ के वाचक प्रतीत होते हैं। किन्तु–संहतावस्था उस संयोग विशेष को कहते हैं जब की वस्तु एक साथ रहकर भी आपस में घुल-मिल नहीं जाती है। और समागतावस्था के द्वारा उस संश्लेश विशेष को सूचित किया गया है जिस स्थिति में वस्तुएँ आपस में घुल–मिल जाती हैं। उनकी पृथक–पृथक स्थिति नहीं रह जाती है। जैसे पृथिवी में रहने वाले जल तेज आदि भूतान्तर के अंश समागतावस्था में आकर आपस में घुल मिल गये हैं, उनकी पृथिवी से अलग प्रतीत नहीं होती है।

श्री विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में स्वीकार किया जाता है कि सभी ज्ञान परमार्थ ही होते हैं, अपरमार्थ नहीं। जिस वस्तु में जिस वस्तु की सत्ता नहीं होती उस वस्तु में उस वस्तु का भ्रम होता ही नहीं है जैसे रस्सी को देखकर उसमें हाथी का भ्रम नहीं होता है। अद्वैती विद्वान् यह कहा करते हैं कि भ्रमस्थल में अज्ञान रूपी दोष के कारण अनिर्वचनीय अपूर्व सर्पादि की उत्पत्ति हो जाती है। उनसे यह पूछने पर कि फिर दोष के कारण रस्सी में अनिर्वचनीय अपूर्व हाथी क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता है। तो इसके उत्तर में वे कहते हैं कि चूँकि

रस्सी और सर्प में आत्यधिक सादृश्य है, अत एव रस्सी में सर्प का भ्रम होता है। किन्तु यहाँ विचारणीय है कि जिन भिन्न पदार्थों में परस्पर में गुण अत्यधिक मात्रा में मिलते जुलते हैं उनमें ही सादृश्य माना जाता है। रस्सी में सर्प के गुण अधिक मात्रा में मिलते जुलते हैं, दोनों में अन्तर यही है कि रस्सी निर्जीव है और सर्प सजीव। अतःगुण भूयस्त्वेन तो सर्प रस्सी में विद्यमान ही है, फिर उस अनिर्वचनीय अपूर्व सर्प की उत्पत्ति की कल्पना क्यों की जाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि विशिष्टाद्वैत दर्शन में यदि रस्सी में सर्प की सत्ता स्वीकार ही की जाती है तो फिर रस्सी में सर्प की प्रतीति को भ्रम क्यों माना जाता है? तो इसका उत्तर यह है कि चक्षुरादि इन्द्रियों के दोष के कारण रस्सी के अंश का ग्रहण न होकर केवल सर्पांश का ही ग्रहण हो जाता है। फलतः उक्त स्थल में रस्सी की प्रतीति न होकर केवल सर्प ही प्रतीत होता है। उसके चलते भयभीत होकर व्यक्ति वहाँ से भागता है। जब उसे इस बात का ज्ञान होता है कि पुरोवर्ती वस्तु में रस्सी के अंश का भूयस्त्व है तो सर्पांश भूयस्त्व ज्ञान का बाध हो जाता है। फलतः प्रवृत्ति का भी बाध हो जाता है। इस व्यवहार के बाध के ही कारण उक्त स्थल में भ्रम स्वीकार किया जाता है। किञ्च विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में अप्रमाणिक एवं अत्यन्त अप्रसिद्ध अनिर्वचनीय, एवं अपूर्व मिथ्या वस्तु की उत्पत्ति की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती है। अपितु ग्रहण वैकल्य के ही द्वारा कार्य चल जाता है।

॥ स्वाप्न विज्ञान का परमार्थत्व प्रतिपादन ॥

मू० स्वप्ने च प्राणिनां पुण्यपापानुगुणं भगवतैव तत्तत्पुरुषमात्रानुभाव्यास्तत् तत् कालावसानाः तथाभूताश्चार्थाः सृज्यन्ते । तथाहिश्रुतिः स्वप्नविषया·"न तत्र रथाः न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति । अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते । न तत्रानन्दामुदः प्रमुदो भवन्ति । अथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते । न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यःस्रवन्त्यो भवन्ति । अथ वेशान्तान् पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते । स हि कर्ता" (बृ० उ० ६।३।१०) इति । यद्यपि सकलेतर पुरुषानुभाव्यतया तदानीं न भवन्ति; तथापि तत् तत् पुरुषमात्रानुभाव्यतया तथाविधानर्थानीश्वरः सृजति । स हि कर्ता । तस्य सत्य संकल्पस्याश्चर्यशक्तेस्तथाविधं कर्तृत्वं संभवतीत्यर्थः । "यएषु सुप्तेषुजागर्ति कामं कामं पुरुषं निर्मिमाणः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।" (कठ० २।५।८) इति च सूत्रकारोऽपि—

"सन्ध्ये सृष्टिराह हि" (शा० मी० ३।२।१)

"निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च" (शा० मी० ३।२।२)

इति सूत्रद्वयेन स्वाप्नेस्वर्थेषु जीवस्य स्रष्टृत्वमाशङ्क्य "मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्" (शा० मी० ३।२।३) इत्यादिना न जीवस्य संकल्पमात्रेण स्रष्टृत्वमुपपद्यते । जीवस्य स्वाभाविक सत्य संकल्पत्वादेः कृत्स्नस्य संसारदशायामनभिव्यक्त स्वरूपत्वात् ईश्वरस्यैव तत् तत् पुरुषमात्रानुभाव्यतया आश्चर्यभूता सृष्टिरियम् । "तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन" -इति परमात्मैव स्रष्टेत्यवगम्यत इति परिहरति । अपवरकादिषुशयानस्य स्वप्नदृशः स्वदेहेनैव देशान्तरगमन राज्याभिषेकशिरश्छेदादयश्च पुण्यपापफलभूताः शयानदेहसरूप संस्थानदेहान्तरसृष्ट्योपपद्यन्ते ।

संगति- अद्वैती विद्वानों का कहना है कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार सभी ज्ञान परमार्थ ही होते हैं । वे यदि अनिर्वचनीय अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति नहीं मानते हैं तो स्वप्न काल में प्रतीत होने वाली वस्तुओं की सत्यता कैसे सिद्ध हो सकती है । इसका उत्तर श्रीभाष्यकार श्री रामानुज स्वामी देते हुए कहते हैं-

अनुवाद- स्वप्न काल में भी प्राणियों के पुण्य पाप के अनुसार भगवान् के ही द्वारा केवल स्वप्न द्रष्टा पुरुषों (जीवों)

के ही द्वारा अनुभव (प्रत्यक्ष) किये जाने योग्य, स्वप्न काल पर्यन्त ही टिकने वाले और स्वप्न काल में होने वाली प्रतीतियों के ही अनुरूप विषयों को सृष्टि कर दी जाती है। स्वप्न विषयिणी श्रुति भी इसी प्रकार की है–"यद्यपि स्वप्न देखे जाने वाले देश एवं काल में न तो रथ होते हैं, न घोड़े होते हैं और न तो मार्ग ही होते हैं, फिर भी परमात्मा (स्वप्नद्रष्टा पुरुष के पुण्य एवं पाप के अनुसार सुख दुःख रूपी फल प्रदान करने के लिये) रथों, घोड़ों, एवं मार्गों की सृष्टि कर देते हैं। वहाँ आनन्द मोद एवं प्रमोद नहीं होते फिर भी परमात्मा आनन्द, मोद एवं प्रमोद की सृष्टि कर देते हैं। वहाँ गृह, पुष्पकरिणी एवं झरने नहीं होते फिर भी परमात्मा गृहों, पुष्करिणियों एवं झरनों की सृष्टि कर देते हैं वे ही सर्व शक्तिमान कर्ता हैं। श्रुति के कहने का आशय है कि- स्वापकालिक वस्तुएं यद्यपि स्वप्नद्रष्टा पुरुष व्यतिरिक्त पुरुषों के अनुभव योग्य नहीं होतीं है, फिर भी केवल विभिन्न स्वप्नद्रष्टा पुरुषों के द्वारा ही अनुभव करने योग्य वैसी-२ वस्तुओं की परमात्मा सृष्टि कर देता है। वह सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर ही स्वाप कालिक वस्तुओं का जनक सत्य संकल्प एवं आश्चर्यमयी शक्तियों से युक्त उस परमात्मा की उस तरह की वस्तुओं की सृष्टि संभव है।

परमात्मा के स्वापकालिक विषयों के सृष्टिकर्तृत्व का प्रतिपादन करती हुई कठश्रुति कहती है कि जो परमात्मा इन सभी जीवों के सो जाने पर अपनी इच्छानुसार स्वापकालिक वस्तुओं का निर्माण करता हुआ जागता रहता है, वही शुक्र, ब्रह्म

एवं अमृत शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाता है। सभी जीव उसी परमात्मा के आश्रित हैं कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता है। सूत्रकार वादरायण भी शारीरक मीमाँसा के तीसरे अध्याय के दूसरे पाद के प्रथम एवं द्वितीय सूत्र 'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' (अर्थात् स्वाप्न पदार्थों की सृष्टि जीव ही करता है,) तथा "निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च' (अर्थात् कठशाखा का अध्ययन करने वाले विद्वान् पुत्रादि काम्य पदार्थों के निर्माता जीव को ही मानते हैं।) के द्वारा स्वापकालिक वस्तुओं के विषय में जीव के स्रष्टृत्व को आशङ्का करके तीसरे "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्' (अर्थात् स्वापकालिक पुत्रादि परमात्मा सृष्ट हैं, क्यों कि संसार दशा में जीवों के गुणाष्टक अभिव्यक्त नहीं रहते हैं) इत्यादि सूत्रों के द्वारा वतलाते हैं कि अपने सङ्कल्प मात्र से जीव स्वापकालिक वस्तुओं का निर्माता नहीं हो सकता है। क्योंकि जो जोव के स्वाभाविक सत्य सङ्कल्पत्व आदि आठ गुण वतलाये गये हैं उनका पूर्ण रूप से संसार दशा (वद्धावस्था) में स्वरूप अनभिव्यक्त (अप्रकाशित) रहता है। अतएव स्वप्नद्रष्टा-मात्र पुरुषों (जीवों) के द्वारा अनुभव किये (देखे) जाने के योग्य आश्चर्यमयी वस्तुओं की सृष्टि परमात्मा ही करते हैं। सभीं जीव उसी परमात्मा के अधीन है, परमात्माश्रितत्व का कोइ भी जीव अतिक्रमण नहीं कर सकता" इस श्रुति के द्वारा ज्ञात होता है कि परमात्मा ही स्वापकालिक वस्तुओं का स्रष्टा है अतः इस श्रुति द्वारा जीव के स्वापकालिक वस्तुओं के स्रष्टृत्व का खण्डन हो जाता है। चादर आदि के भीतर सोये हुए स्वप्नद्रष्टा पुरुष

जो अपने देह से ही स्वप्न काल में देशान्तर में जाता है, राज्यभिषेक और शिरश्छेदन आदि पुण्य एवं पाप के फलस्वरूप सुख दुःख आदि का अनुभव करता है वह तब ही संभव हो सकता है जबकि मान लिया जाय कि उस जीव के सोये हुये शरीर के समान ही अङ्गोंवाले दूसरे देह की उतने देर के लिये सृष्टि परमात्मा ही अपने सत्य संकल्प के द्वारा कर सकते हैं, जीव नहीं। अतएव स्वापकालिक अनुभूयमान वस्तुओं की सृष्टि उतनी देर के लिये परमात्मा कर देते हैं, जिनका जीव अनुभव करता है। अतएव स्वापकाल में भी होने वाले ज्ञान यथार्थ वस्तु विषयक ही होते हैं मिथ्या वस्तु विषयक नहीं।'

टिप्पणी—आनन्दाः मुदः प्रमुदोभवन्ति- इस श्रुति के आनन्द आदि शब्द-पर्याय वाचक प्रतीत होते हैं, क्योंकि आनन्द, मोद एवं प्रमोद पद के द्वारा सामान्यतः अनुकूल प्रतीति रूप सुख का ही अभिधान होता है। अतएव यहाँ श्रुति में पुनरुक्ति दोष की की आशङ्का होती है। किन्तु ऐसी वात नहीं है। श्रुत प्रकाशिकाकाकार इन तीनों शब्दों के अर्थों में भेद का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि—स्वाप्न कालिक साधारण भोग्य पदार्थों के देखने से उत्पन्न सुख को प्रमोद एवं उन भोग्य पदार्थों के विनियोग के द्वारा उत्पन्न सुख को यहाँ आनन्द कहा गया है। अथवा स्वापकालिक विलक्षण उपभोग्य विषयों के दर्शन से उत्पन्न सुख को मोद, उनके विनियोगार्हत्वज्ञान से उत्पन्न सुख को प्रमोद तथा विनियोग जन्य सुख को आनन्द शब्द से यहाँ अभिहित किया गया है।

* अन्य समस्याओं का समाधान *

मूल—पीतशंखादौ तु नयनवर्ती पीत्तद्रव्यसंभिन्ना नायनरश्मयः शंखादिभिः संयुज्यन्ते। तत्र पीत्तगत पीतिमाभिभूताः शंखगतशुक्लिमा न गृह्यते, सुवर्णानुलिप्त-शंखवत्, पीतःशंख इति प्रतीयते। पित्तद्रव्यं तद्गत-पीत्तिमाचाति सौक्ष्म्यात् पार्श्वस्थैर्न गृह्यते। पित्तोपहतेन तु स्वनयननिष्क्रान्ततयाऽतिसामीप्यात् सूक्ष्ममपि गृह्यते। तद्ग्रहणजनित संस्कारसचिवनायनरश्मिभि-र्दूरस्थमपि गृह्यते।

संगति—जिस व्यक्ति को पीलिया रोग हो जाता है उसको उजला भी शंख पीला प्रतीत होता है, इसके कारण का समाधान करते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं-

अनुवाद—पीले शंख की प्रतीति के स्थल में तो आँखों में रहने वाले पीत्त द्रव्य से मिली हुई नेत्र की रश्मियों का संबन्ध हो जाता है। उक्त स्थल में पीत्त द्रव्य की पीत्तिमा (पीलेपन) से शंख में रहने वाली धवलिमा अभिभूत (दब) जाती है अतएव उसका ग्रहण (पीलिया रोग वाले व्यक्ति के द्वारा) नहीं होता है। फलतः वह उजला शङ्ख भी उस व्यक्ति को स्वर्ण जटित के समान पीला ही प्रतीति होता है। उस व्यक्ति के नेत्रों में रहने वाला पीत्त द्रव्य उसकी पीतिमा का, अत्यन्त सूक्ष्म होने में कारण, सन्निकट के भी दूसरे लोग नहीं ग्रहण कर पाते हैं। पीत्त द्रव्य और उसकी पीतिमा के अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी पीत्तोपहत व्यक्ति द्वारा उसका ग्रहण इसलिये हो

जाता है कि वह पोतिमा उसके अपने हो नेत्रों से निकलने के कारण अत्यन्त सन्निकट होती है । और उस पीतिमा के ग्रहण जन्य संस्कार से सहकृत नेत्र की रश्मियों के द्वारा दूरस्थभी शंख द्रव्य गृहीत हो जाता है ।

मूल—जपाकुसुमसमीपवर्तिस्फटिकमणिरपि तत्प्रभाभिभूततया रक्त इति गृह्यते । जपाकुसुमप्रभा विततापि स्वच्छद्रव्य-संयुक्ततया स्फुटतरमुपलभ्यत इत्युपलब्धिव्यवस्थाप्यमिदम् । मरीचिकाजलज्ञानेऽपितेजः पृथिव्योरप्यम्बुनो विद्यमानत्वादिन्द्रियदोषेण तेजः पृथिव्योरग्रहणाददृष्टवशाच्चाम्बुनो ग्रहणाद्यथार्थत्वम् । अलातचक्रेऽप्यलातस्य द्रुततरगमनेन सर्वदेशसंयोगादन्तरालाग्रहणात् तथा प्रतीतिरुपपद्यते चक्रप्रतितावपि अन्तरालाग्रहणपूर्वकतत्तत् देशसंयुक्ततत् तत् वस्तुग्रहणमेवक्वचिदन्तरालाभावादन्तरालाग्रहणम्; क्वचिच्छैघ्र्यादग्रहणमिति विशेषः । अतस्तदपियथार्थम् । दर्पणादिषु निजमुखप्रतीतिरपि यथार्था । दर्पणादिप्रतिहतगतयो नायनरश्मयो दर्पणादिदेशग्रहणपूर्वकं निजमुखादिगृह्णन्ति । तत्राप्यतिशैघ्र्यादन्तरालाग्रहणात् तथा प्रतीतिः । दिङ्मोहेऽदिगन्तरस्यास्यांदिशि विद्यमानत्वाददृष्टवशेनैतद् दिगंशवियुक्तो दिगन्तरांशो गृह्यते । अतोदिगंतरप्रतीतिर्यथार्थैव ।

अनुवाद—जपा कुसुम (ग्रोडहुल के पुष्प) के सन्निकट में रहने वाली स्फटिक मणि भी उस जपा कुसुम, की प्रभा से अभ-भूत होने के कारण लाल प्रतीत होता है। स्फटिक मणि के स्वच्छ द्रव्य संयुक्त होने के कारण उसके जपाकुसुम से प्रभावित होने का गुण स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। अतएव उपलब्धि के अनुसार ही जपाकुसुम प्रभा रूपी द्रव्यान्तर संवन्ध के कारण ही इस ज्ञान के याथार्थ्य को स्वीकार करना चाहिये।

मृगमरीचिका में जो जल का ज्ञान होता है, वह इसलिए कि पञ्चीकरण प्रक्रिया के अनुसार तेज एवं पृथिवी में भी जल का अंश रहता ही है, अतएव इन्द्रियों के दोष के कारण और अदृष्टवश; पृथिवी और तेज का ग्रहण नहीं होता है केवल जल का ही ग्रहण हो पाता है, अतएव वह ज्ञान भी यथार्थ ही ज्ञानहै।

अलात चक्र में भी अलात के अत्यधिक तेज चलने के कारण उसका सभी देशों से शीघ्रता से संयोग होता रहता है। अतएव अन्तराल का ग्रहण न हो सकने के कारण अलात चक्र (लुकाठ की वनेठी) गोल प्रतीत होता है। चक्र की प्रतीति में भी अन्त-राल (छिद्र) का ग्रहण (साक्षात्कार) न होकर विभिन्न स्थानों से सम्वद्ध विभिन्न वस्तुओं का ही ग्रहण हो जाता है। अलात चक्र में कहीं पर तो अन्तराल रहता ही नहीं हैं; (क्योंकि अलात की ज्वाला ही गोल वन जाती है) अतएव अन्तराल का ग्रहण नहीं हो पाता है, और कहीं पर अलात के अतिशीघ्र चलने के कारण अन्तराल का ग्रहण नहीं हो पाता है; यह भेद है! अतएव वह भी ज्ञान यथार्थ ही है।

यद्यपि दर्पण आदि के भीतर अपना मुखड़ा नहीं होता है, फिर भी दर्पण के भीतर जो मुख की प्रतीति होती है वह भी प्रतीति यथार्थ ही है। क्योंकि आँख की ज्योतियों की गति दर्पण आदि के द्वारा अवरुद्ध हो जाती है। और वे ही आखों की ज्योतियाँ दर्पण इत्यादि (से टकराकर उनके) स्थानों के ग्रहण पूर्वक अपने मुख इत्यादि का ग्रहण करलेती हैं। (दर्पण आदि से टकराकर लौटी हुई ज्योतियाँ, दर्पणादि स्थान ग्रहण पूर्वक मुखादि का ग्रहण इतनी शीघ्रता से करती हैं कि मुखड़े और दर्पण के बीच की दूरी का ग्रहण नहीं हो पाता है; अतएव प्रतीत होता है कि हमारा मुखड़ा दर्पण के भीतर है।

दिग्भ्रम में भी चूँकि एक एक दिशा दुसरी दिशा में विद्यमान रहती है, अतएव अदृष्टवश जिस दिशा में दुसरी दिशा का भ्रम हो रहा है, उस दिशा के अंश को छोड़कर विद्यमान् दुसरी दिशा के अंश का ग्रहण हो जाता हैं, अतएव किसी दिशा में दुसरी दिशा का भी होने वाला ज्ञान यथार्थ ही है।

टिप्पणी—इस तरह सिद्ध हुआ कि जपाकुसुम-स्फटिकमणि मरुमरीचिका और जाल ज्ञान, अलात चक्र एवं अन्तराल का अग्रहण, तथा एक दिशा में दिशान्तर का ज्ञान आदि स्थल में द्रव्यान्तर के संवन्ध के कारण ही तत् तत् प्रकार की प्रतीति होती है। अतएव उक्त स्थलों में भी होने वाला ज्ञान यथार्थ ही है।

द्विचन्द्रज्ञान की समस्या का समाधान

मूल—द्विचन्द्रज्ञानादावपि अङ्गुल्यवष्टम्भतिमिरादिभिः नायन-
तेजोगतिभेदेन सामग्रीभेदात् सामग्रीद्वयम् अन्योन्यनि-
रपेक्षं चंद्रग्रहणद्वयहेतुभवति । तत्रैका सामग्री स्वदेश
विशिष्टं चन्द्रं गृह्णाति । द्वितीयातुकिञ्चिद्वक्रगतिः
चांद्रसमीपदेशग्रहण पूर्वक चांद्रं स्वदेशवियुक्तं गृह्णाति ।
अतः सामग्रीद्वयेन युगपद्देशद्वय विशिष्टचांद्रग्रहणे
ग्रहणभेदेन ग्राह्याकारभेदादेकत्वग्रहणाभवाच्च द्वौ चंद्रा-
विति भवति प्रतीतिर्विशेषः । देशांतरस्य तद्विशेषणत्वं
देशांतरस्य अगृहीतस्वदेशचांद्रस्य च निरंतरग्रहणेन भवति
तत्र सामग्रीद्वित्वं पारमार्थिकम् । तेन देशद्वयविशिष्ट-
चंद्रग्रहण द्वयं च पारमार्थिकम् । ग्रहणद्वित्वेन चांद्रस्यैव
ग्राह्याकारद्वित्वं च पारमार्थिकम् ।तत्र विशेषणद्वयवि-
शिष्टचांद्र ग्रहणद्वयस्यैक एव चांद्रो ग्राह्य इति ग्रहणे
प्रत्यभिज्ञानवत् केवल चाक्षुषः सामर्थ्याभावाच्चाक्षुष-
ज्ञानं तथैवावतिष्ठते । द्वयोः चाक्षुषोरेकसामग्र्यंतर्भावे-
ऽपि तिमिरादिदोषभिन्नचाक्षुषं तेजः सामग्रीद्वयं भवतीति
कार्यकल्प्यम् अपगते तु दोषे स्वदेशविशिष्टस्य चंद्रस्यै-

क ग्रहणवेद्यत्वादेकचांद्र इति भवति प्रत्ययः। दोषकृतं तु सामग्रीद्वित्वं तत्कृतं ग्रहणद्वित्वं तत्कृतं ग्राह्याकार द्वित्वं चेति निरवद्यम्। अतः सर्वं विज्ञानजातं यथार्थमिति सिद्धम्।

अनुवाद--जहां पर दो चन्द्र आदि का ज्ञान होता है वहाँ तो अंगुल्यवष्टम्भ तथा तिमिर आदि दोषों के द्वारा नेत्रों की ज्योति की गति में भेद उत्पन्न हो जाता है। अत एव सामग्री में भेद होने के कारण दोनों सामग्रियाँ परस्पर में निरपेक्ष रहती हुई दो चन्द्र के ग्रहण का कारण वन जाती हैं। उनमें एक सामग्री जिस देश में चन्द्र रहता है उस देश से विशिष्ट चन्द्र का ग्रहण कर लेती है। और दूसरी सामग्री कुछ टेढी गति से चन्द्र के सन्निकट के स्थान का ग्रहण करके अपने देश से रहित चन्द्र का ग्रहण करती है। अत एव सामग्री (कारण) के दो होने के कारण समकाल में ही दो देश (स्थान) से विशिष्ट चन्द्र के ग्रहण में (साक्षात्कार) भेद होने के कारण ग्राह्य वस्तु के आकार में भेद होने से तथा चन्द्र के एकत्व का नहीं ग्रहण होने से दो चन्द्र हैं, इस प्रकार का ज्ञान विशेष होता है।

चूँकि उसमें सामग्री का दो होना परमार्थ है। अत एव स्वस्थान एवं स्थानान्तर से विशिष्ट दो चन्द्र का ग्रहण भी पारमार्थिक ही है। और साक्षात्कार में भेद होने के कारण एक ही चन्द्र रूपी ग्राह्य वस्तु (चन्द्र) के आकार में प्रतीयमान

भेद (द्वित्व) भी पारमार्थिक ही है। (ग्रहण में अत्यन्त शीघ्रता होने के कारण उन दोनों साक्षात्कारों के क्रम का ज्ञान नहीं हो पाता है।) चन्द्र द्वय प्रतीति स्थल में दो स्थानरूपी विशेषणों से विशिष्ट (युक्त) चन्द्र के साक्षात्कार द्वय का ग्राह्य चन्द्र एक ही है, इस प्रकार के साक्षात्कार में होने वाली प्रत्यभिज्ञा में जिस तरह केवल नेत्रों का ही सामर्थ्य नहीं अपेक्षित होता(अपितु तदर्थ उसके संस्कार भी अपेक्षित होता है) उसी तरह (संस्कार के न होने के कारण) यहाँ भी आखों से दो ही चन्द्र की प्रतीति होती है। दोनों नेत्रों का ही सामग्री में अन्त भार्व होने पर भी तिमिर आदि दोषों से युक्त नेत्र की ज्योति ही दो सामग्री हो जाती है यह दो चन्द्र साक्षात्कार रूप कार्य को देखकर कल्पना कर लेनी चाहिए। जब कि अंगुल्यवष्टम्भ, तिमिर आदि दोष दूर हो जाते हैं, उससमय अपने स्थान से विशिष्ट एक ही चन्द्र के साक्षात्कार का विषय होने के कारण चन्द्र एक ही है इस प्रकार का ज्ञान होता है। अङ्गुल्यवष्टम्भ, तिमिर आदि दोष के कारण साक्षात्कार की सामग्री (नेत्र ज्योति) दो हो जाती है, उसके चलते दो चन्द्र का साक्षात्कार तथा साक्षात्कार भेद के कारण ग्राह्य (चन्द्र) के आकार में द्वित्व (भेद) हो जाता है, इसमें कोई दोष नहीं है। अत एव जितने ज्ञान होते हैं वे सबके सब परमार्थ ही होते हैं।

मू०- ख्यात्यन्तराणां दूषणानि तैस्तैर्वादिभिरेव प्रपञ्चिता-
नीति न तत्र यत्नः क्रियते। अथवा किमनेनबहुनो-

पपादनप्रकारेण? प्रत्यक्षानुमानागमाख्यं प्रमाणजातम् आगमाख्यं च निरस्तनिखिलदोषगन्धमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणं सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं परंब्रह्म अभ्युपगच्छतां किं न सेत्स्यति? किंनोपपद्यते? भगवता हि परेण ब्रह्मणा क्षेत्रज्ञपुण्यपापानुगुणं तद् भोग्यत्वाय अखिलं जगत् सृजता सुखदुःखोपेक्षाफलानुभवानुभाव्याः पदार्थाः सर्वसाधारणानुभवविषयाः। केचन तत् तत् पुरुषमात्रानुभवविषयाः, तत् तत् कालावसानाः, तथा तथानुभाव्याः सृज्यन्ते। तत्र बाध्य-बाधकभावः सर्वानुभवविषयतया, तद्रहिततया चोपपद्यते इति सर्वं समञ्जसम्।

अनुवाद-यथार्थ ख्याति को छोड़कर दुसरी ख्यातियों के दोषों का विस्तार तो तत् तत् वादियों ने ही किया है अतएव तदर्थ हम प्रयास नहीं करते हैं। अथवा इस अनेक प्रकार के प्रतिपादन के प्रकार से क्या लाभ? प्रत्यक्ष, अनुमान, एवं शब्द नामक प्रमाण समुदाय को तथा आगम के द्वारा जानने के योग्य सभी दोषों के गन्ध से भी रहित, सीमातीत सर्वोत्कृष्ट असंख्येय कल्याण गुणों के समूहरूप सर्वज्ञ तथा सत्य संकल्प परंब्रह्म को स्वीकार करने वाले हम लोगों के मत में किस अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है? क्या नहीं उपपन्न हो सकता है?

(हम मानते हैं कि) भगवान् परंब्रह्म जीवों के पुण्य-पाप रूप कर्मों के अनुसार उनके फल भोग के लिए सारे जगत् की सृष्टि करते हुए सुख, दुःख और उपेक्षा रूप फल के अनुभवों से भोगने योग्य विषयों, सब साधारण अनुभव के विषयों तथा कुछ भ्रान्त एवं स्वप्न द्रष्टा आदि पुरुषों के ही अनुभव के योग्य विषयों भ्रम तथा स्वप्न दर्शन आदि ही काल पर्यन्त रहने वाले, और भ्रम तथा स्वप्नकाल में ही होने वाली प्रतीति के योग्य विषयों की सृष्टि करते हैं। भ्रमकाल तथा स्वप्नकाल में होने वाले ज्ञान तथा तत्पश्चात् होने वाले ज्ञानों में बाध्यबाधकभाव सभी लोगों के अनुभव के विषय तथा उसके अभाव के कारण होता हैं। (जो प्रतीति सभी लोगों के अनुभव के योग्य होती है वह बाधक तथा जो भ्रान्त आदि पुरुषों के अनुभव के योग्य प्रतीति होती है वह बाध्य होती है।) इस तरह विशिष्टाद्वैती विद्वानों के मत में सभी ज्ञानों का सामञ्जस्य होता है।

।। अनिर्वचनीय अज्ञान का श्रौतत्व खण्डन ।।

मू०·यत्पुनः-सदसदनिर्वचनीयमज्ञानं श्रुतिसिद्धमिति तदसत्-'अनृतेन हि प्रत्यूढाः' (छा० ८।३।२) इत्यादिष्वनृत शब्दस्यानिर्वचनीयानभिधायित्वात्। ऋतेतरविषयो ह्यनृतशब्दः। ऋतमितिकर्मवाचि-'ऋतंपिबन्तौ' (कठ० १।३।१) इतिवचनात्। ऋतम्-कर्म फलाभिसन्धिरहितं

परमपुरुषाराधनवेषं तत्प्राप्तिफलम् । अत्र तद्व्यतिरिक्तं सांसारिकफलं कर्मानृतं ब्रह्मप्राप्तिविरोधि । 'एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः" इतिवचनात् । 'नासदासन्नो सदासीत् तदानीम्" (यजु० २।८।९) इत्यत्रापि सदसच्छब्दौ चिदचिद् व्यष्टिविषयौ । उत्पत्तिवेलायाम् सत् त्यच्छब्दाभिहितयोः चिदचिद्व्यष्टिभूतयोः वस्तुनोरप्ययकाले अचित्-समष्टिभूते तमश्शब्दाभिधेय वस्तुनि प्रलयप्रतिपादनपरत्वादस्य वाक्यस्य । नात्र कस्यचित्सदसदनिर्वचनीयतोच्यते । सदसतोः कालविशेषे असद्भावमात्रवचनात् । अत्र तमश्शब्दाभिहितस्याचित् समष्टित्वं श्रुत्यंतरादवगम्यते "अव्यक्तमक्षरे लीयते । अक्षरं तमसि लीयते ।" (मु० उ० २) इति । सत्यम्, तमश्शब्देनाचित्समष्टिरूपायाः प्रकृतेः सूक्ष्मावस्थोच्यते तस्यास्तु-" मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वे० ४।१०) इति मायाशब्देन अभिधानाद् अनिर्वचनीयत्वमिति चेत् नैतदेवम् मायाशब्दस्यानिर्वचनीयवाचित्वं न दृष्टमिति । मायाशब्दस्य मिथ्यापर्यायत्वे अनिर्वचनीयत्वमिति चेत् ।

नैतदेवम् । मायाशब्दस्य अनिर्वचनीयवाचित्वं न दृष्टम् इति ।। मायाशब्दस्य मिथ्यापर्यायत्वेन अनिर्वचनीयवाचित्वं इति चेत्–तदपि नास्ति । न हि सर्वत्र मायाशब्दो मिथ्याविषयः । असुरराक्षसशस्त्रादिषु सत्येष्वेव मायाशब्दप्रयोगात् । यथोक्तम्—

तेनमाया सहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना ।
बालस्य रक्षता देहमेकैकश्येन सूदितम् ।।इति
(वि० पु० १।१९।२०)

अतो मायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकराभिधायी । प्रकृते च मायाशब्दाभिधानं विचित्रार्थसर्गकरत्वादेव–"अस्मान्मायीसृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" (श्वे० ४।९) इति मायाशब्दवाच्यायाः प्रकृतेः विचित्रार्थसर्गकरत्वं दर्शयति । परमपुरुषस्य च तद्वत्तामात्रेण मायित्वमुच्यते नाज्ञत्वेन । जीवस्यैव हि मायया निरोधः श्रूयते । तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ।" इति । "अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते ।" (मा० २।२१) इति ।"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (बृ० ४।६। १९)इत्यत्रापि विचित्राः शक्तयोऽभिधीयन्ते । अतएव हि- "भूरित्वष्टेवराजति ।" इत्युच्यते । नहि मिथ्या भूतः

कश्चिद्विराजते । "मम माया दुरत्यया ।" इत्यत्रापि गुणमयीति वचनात् सैव त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरुच्यते इति न श्रुतिभिः सदसदनिर्वचनीयाज्ञानप्रतिपादनम् ।

अनुवाद-और अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि सद् असद् अनिर्वचनीय अज्ञान की सिद्ध श्रुतियों द्वारा ही होती है; तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन ठीक नहीं है । (अनृत से आच्छन्न...) (छा० ८-३-२) श्रुति में अनृत शब्द अनिर्वचनीयत्व का वाचक नहीं है । अपितु अनृत शब्द ऋत से भिन्न का वाचक है 'ऋतं पिबन्ती' इस वाक्य को देखने से पता चलता है कि ऋत शब्द पुण्य कर्म का वाचक है, ज्ञान का नहीं । परमात्मा की प्राप्ति ही जिनका फल है, ऐसे परमात्मा की आराधना स्वरूप फलाभिसंधि रहित कर्म ही ऋतशब्द वाच्य हैं । 'अनृतेन हिप्रत्यूढ़ाः' श्रुति में परमात्मा की प्राप्ति करने वाले कर्मों से भिन्न सांसारिक फलों को देने वाले कर्मों को अनृत शब्द से कहा गया है । ऐसे कर्म ब्रह्म प्राप्ति के विरोधी होते हैं । यह-- 'अनृत के द्वारा आच्छन्न स्वरूप वाले जीव इस ब्रह्मलोक को नहीं प्राप्त कर पाते हैं' छा० ८।३।१) इस वाक्य के द्वारा ज्ञात होता है ।

'सृष्टि से पूर्व न तो सत् था और न तो असत' इस वाक्य में भी सत् एवं असत् शब्द क्रमशः चेतन एवं जड़ के वाचक हैं ।' क्योंकि यह वाक्य इस अर्थ का प्रतिपादन करता है कि सृष्टि काल में सत् एवं त्यत् शब्द से कहे गये पृथक्-पृथक् चेतन और जड़ वस्तुओं का प्रलयकाल में जड़ की समष्टि भूत तमः शब्द

वाच्य वस्तु में प्रलय होता है। इस वाक्य में किसी की सत् असत् अनिर्वचनीयता नहीं बतलायी जाती है। यहाँ तो सत् और असत् का काल विशेष में असद्भाव मात्र बतलाया गया है। यहाँ पर तमस् शब्द से जड़ की समष्टि कही गयी है, यह एक दुसरी श्रुति से ज्ञात होता है। वह है–

"अव्यक्त का अक्षर तत्व में लय होता है और अक्षर का तमस् में लय होता है।" (सु० २) इसपर यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि, यहाँ तमः शब्द के द्वारा अचित् (जड़) की समष्टि रूपा प्रकृति की सूक्ष्मावस्था कही गयी है। और 'माया को प्रकृति जाने' (श्वे० ४।१०) इस श्रुति में प्रकृति के वाचक माया शब्द के होने के कारण प्रकृति की अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है। तो वे ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि माया शब्द की अनिर्वचनीय वाचकता कहीं भी नहीं देखी गयी है।

यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि माया शब्द मिथ्या का पर्याय वाची है, अतएव उसकी अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है। तो यह भी कहना अनुचित है। सब जगह माया शब्द मिथ्या का वाचक नहीं होता है। असुर एवं राक्षसों के शस्त्र आदि के सत्य होने पर भी उनको बतलाने के लिए माया शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसा कि श्री विष्णु पुराण में कहा गया है बालक प्रह्लाद के शरीर की रक्षा करने वाले उस शीघ्रगामी अस्त्र ने शम्बरासुर की सहस्रों माया को एक-एक कर काट डाला।

अतएव विचित्र कार्य करने को माया कहते हैं। प्रकृति चूंकि विचित्र सृष्टि करने वाली है अत एव उसको माया शब्द से अभिहित किया जाता है। ' प्रकृति शरीरक परमात्मा अपने शरीर भूत माया से इस विश्व की सृष्टि करता है और परमात्मा से भिन्न (जीव माया से आबद्ध है।' (श्वे१ ४।६) यह श्रुति मायशब्द से कही जानेवाली प्रकृति के विचित्रसृष्टिकरत्व को बतलाती है। परमपुरुष (परमात्मा) तो मायी इसलिए कहे जाते हैं कि माया उनकी शक्ति है। अज्ञ होने के कारण मायी नहीं कहलाते हैं। 'और उसी विश्व में परमात्मा से भिन्न चेतन माया से आबद्ध है' (श्वे० ४।६) इस श्रुति में माया के द्वारा जीवका ही निरोध (बन्धन) सुना जाता है। 'अनादिमाया में सोया हुआ जीव जब जगता है" (मा० २।२१) यह श्रुति भी माया के द्वारा जीव के स्वाभाविक ज्ञान तिरोहितत्वरूप बन्धन को बतलाती है।

' इन्द्र (ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मा) मायाओं (त्रिगुण युक्त होने के कारण यहाँ माया शब्द का अनेकत्व व्यपदेश हुआ है। , के द्वारा अनेक रूपों को प्राप्तकरता है।' इस श्रुति में भी माया शब्द से परमात्मा की विचित्र शक्तियाँ कही गयी हैं। इसीलिए विचित्र शक्ति के द्वारा परमात्मा का प्रकाश ' परमात्मा त्वष्टा के समान अत्यधिक सुशोभित होता है' इस वाक्य में राज् धातु के द्वारा कहा गया है। कोई भी मिथ्याभूत नहीं सुशोभित होता है। (गी० ७।१४) में भी माया

को गुणमयी बतलाकर उस त्रिगुणात्मिका प्रकृति को ही भगवान् अनुल्लंघ्य बतलाते हैं। अतएव श्रुतियों के द्वारा कहीं भी सदसदनिर्वचनीय अज्ञान का प्रतिपादन नहीं किया गया है।

मू०- नाप्यैक्योपदेशानुपपत्त्या। नहि 'तत्वमसि' इति जीवपरयोरैक्योपदेशे सति सर्वज्ञे सत्यसंकल्पे सकलजगत्सर्गस्थितिविनाशहेतुभूते तच्छब्दावगते प्रकृते ब्रह्मणि विरुद्धाज्ञानपरिकल्पनाहेतुभूता काचिदप्यनुपपत्तिः दृश्यते। ऐक्योपदेशस्तु 'त्वं' शब्देनापि जीवशरीरक ब्रह्मण एव अभिधानादुपपन्नतरः। "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छा०६।३।२) इति सर्वस्यवस्तुनः परमात्मपर्यन्तस्यैव हि नामरूपभाक्त्वमुक्तम् अतो न ब्रह्माज्ञान परिकल्पनम्।

अनु०—अद्वैती विद्वान् यह जो कहते हैं कि चूंकि श्रुति ब्रह्म की जीव के साथ एकता का प्रतिपादन करती है अतएव ब्रह्म से भिन्न अविद्या को कल्पना करनी पड़ती है। तो उनका यह भी कथन उचित नहीं है। क्योंकि 'तत्त्वमसि' वाक्य के द्वारा जीवात्मैक्योपदेश मान लेने पर भी सर्वज्ञ, सत्य संकल्प सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, स्थिति और विनाश के कारण भूत, तत् शब्द के वाच्यार्थ प्रकृत ब्रह्म में विरुद्धज्ञान की परिकल्पना के कारण स्वरूप में कोई भी अनुपपत्ति नहीं दिखायी देती है।

ऐक्योपदेश तो त्वं शब्द के द्वारा भी जीवशरीरक ब्रह्म का ही अभिधान शक्ति के द्वारा सिद्ध ही है। इस जीव शरीरकजगत् में मैं प्रवेश करके इनके नाम और रूप का व्याकरण (अभिव्यंजन) करूँ। यह श्रुति बतलाती है कि सभी वस्तुएँ नाम और रूप के पात्र हैं। अतएव ब्रह्माज्ञान की परिकल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इतिहास और पुराण में भी ब्रह्माज्ञान वाद का प्रतिपादन नहीं

इतिहास-पुराणयोरपि न ब्रह्माज्ञानवादः क्वचिदपि दृश्यते। ननु 'ज्योतींषि विष्णुः' (वि० पु० २।१२) इति ब्रह्मैक्यमेव तत्त्वमिति प्रतिज्ञाय, 'ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसौ' इति शैलाब्धिधरादिभेदभिन्नस्य जगतो ज्ञानैकस्वरूपब्रह्माज्ञानविजृम्भितत्वमभिधाय 'यदातु शुद्धं निजरूपि' इति ज्ञानस्वरूपस्येव ब्रह्मणः स्वस्वरूपावस्थितिवेलायां वस्तुभेदाभावदर्शनेन ज्ञान विजृम्भितत्वमेव स्थिरीकृत्य 'वस्त्वस्ति किम्' 'मही घटत्वम्' इति श्लोकद्वयेन जगदुपलब्धिप्रकारेणापि वस्तुभेदानामसत्यत्वमुपपाद्य "तस्मान्नविज्ञानमृते" इति प्रतिज्ञातं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्यासत्यत्वमुपसंहृत्य, 'विज्ञानमेकम्' इति ज्ञान स्वरूपे ब्रह्मणि भेददर्शन निमित्ताज्ञानमूलं निजकर्मवेतिस्फुटीकृत्य,'ज्ञानं विशुद्धम् इति ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणः स्वरूपं विशोध्य 'सद्भाव

एव भवतो मयोक्तः" इति ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मण एवं सत्यत्वं नान्यस्य अन्यस्य चासत्यत्वमेव, तस्यभुवनादेः सत्यत्वं व्यावहारिकमिति तत्वं तवोपदिष्टमिति ह्युपदेशो दृश्यते ।

अनुवाद—इतिहास और पुराणों में कहीं भी ब्रह्माज्ञानवाद का प्रतिपादन नहीं किया गया है । इस पर यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि विष्णु पुराण के दूसरे अंश के वारहवें अध्याय का ३८ वां श्लोक ज्योतींषि विष्णुः आदि श्लोक वतलाता है कि—ज्योति स्वरूप विष्णु में स्थित पृथिवी आदि सभी वस्तुएं उस परमात्मा के कल्पित रूप हैं, अतः ब्रह्म की एकता ही तत्व है इस वात की प्रतिज्ञा करके, ३६ वें श्लोक ज्ञानस्वरूपो भगवान् इत्यादि में वतलाया गया है कि—पर्वत समुद्र आदि भेदों से युक्त जगत ज्ञानमात्र ब्रह्म के अज्ञान का विजृम्भण मात्र है । यदातु शुद्धम् इत्यादि ४० वें श्लोक में वतलाया गया है कि ज्ञान स्वरूप ब्रह्म जव अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है उस समय वस्तु भेद की प्रतीति नहीं होती है, अतएव भेद अज्ञान कल्पित सिद्ध होता है । तदनन्तर ४१ वें तथा ४२ वें 'वस्त्वस्त किम्' एवं 'महीघटत्वम्' आदि दो श्लोकों में भी जगत् की उपलब्धि के प्रकार से भी प्रतीयमान भेद की असत्यता वतलायी गयी है । फिर ४३ वें श्लोक के पूर्वार्द्ध तस्मान्न इत्यादि श्लोक के द्वारा ब्रह्म से भी भिन्न प्रतीयमान जगत के भेद के असत्यत्व प्रतिपादन

का उपसंहार किया गया है । ४३ वें विज्ञानमेकम् इत्यादि श्लोक के उत्तरार्द्ध के द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है कि ज्ञान मात्र ब्रह्म में भेद दर्शन का कारण अज्ञानमूलक अपना कर्म ही है । ४५ वें श्लोक द्वारा ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप का स्पष्टीकरण तथा ४५ वें श्लोक में यह बतलाया गया है कि ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही सत्य है, और तद्व्यतिरिक्त मिथ्या ही है । उस जगत् का सत्यत्व व्यावहारिक है इस प्रकार का तत्त्वोपदेश तुम्हें (मैत्रेय) को दिया गया है ।

टिप्पणी—श्रीविष्णु पुराण के २ रे अंश के १२ वें अध्याय में श्रीपराशरमहर्षि ने श्री मैत्रेय को ३८ वें श्लोक से लेकर ४५ वें श्लोक तक तत्त्वोपदेश किया है । उसका अर्थ अद्वैती विद्वान इस प्रकार करते हैं-

ज्योतींषि० इत्यादि—हे विप्रवर्य तारागण, त्रिभुवन, वन, पर्वत दिशाएँ, नदियाँ एवं समुद्र सभी भगवान् विष्णु ही हैं तथा और भी जो कुछ है— अथवा नहीं है, वह सब कुछ केवल वे ही हैं ।

ज्ञानस्वरूप० इत्यादि—क्योंकि भगवान् विष्णु ज्ञान स्वरूप है इसलिए वे सर्वमय हैं । परिच्छिन्न पदार्थाकार नहीं हैं, अतः इन पर्वत समुद्र और पृथिवी आदि भेदों को तुम एक मात्र विज्ञान का ही विलास समझो (३।६) जिस समय जीव आत्मज्ञान के द्वारा दोष रहित होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने से अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है उस समय आत्म वस्तु में संकल्पवृक्ष के फलरूप पदार्थ भेदों की प्रतीति नहीं होती ।।४०।।

हे द्विज ! कोई भी घटादि वस्तु है ही कहां ? आदि मध्य और अन्त से रहित नित्य एकरूपचित् ही तो सर्वत्र व्याप्त है। जो वस्तु पुनः पुनः बदलती रहती है वह पूर्ववत नहीं होती, उसकी वास्तविकता ही क्या है ? ॥४१॥ देखो मृत्तिका ही घट रूप हो जाती है फिर वही घट से कपाल, कपाल से चूर्ण और फिर वही अणु हो जाती है। तो फिर बताओ अपने कर्मों के वशीभूत हुए मनुष्य आत्म स्वरूप को भूलकर इसमें कौनसी सत्य वस्तु देखते हैं ? ॥४२॥ अतः हे द्विज ! विज्ञान से भिन्न कभी, कहीं कोई पदार्थादि नहीं हैं। अपने-अपने कर्मों के भेद से भिन्न भिन्न चित्तों द्वारा एक ही विज्ञान नाना प्रकार से मान लिया गया है ॥४३॥ वह विज्ञान अतिविशुद्ध, निर्मल, निःशोक और लोभादि समस्त दोषों से रहित है। वही एक सत्यस्वरूप परम परमेश्वर वासुदेव हैं, जिससे पृथक् और कोई पदार्थ नहीं है ॥४५॥ इस प्रकार, मैंने तुमसे यह परमार्थ का वर्णन किया है, केवल एक ज्ञान ही सत्य है, उससे भिन्न और सब असत्य है। इसके अतिरिक्त जो केवल व्यवहारमात्र है, उस त्रिभुवन के विषय में भी मैं तुमसे कह चुका हूँ।

मूल—नैतदेवम्— अत्रभुवन कोशस्य बिस्तीर्णं स्वरूपम् उक्त्वा पूर्वमनुक्तं रूपान्तरं "सक्षेपः श्रूयताम्" (२।१२।३७) इत्यारभ्याभिधीयते। चिदचिन्मिश्रे जगति चिदंशो-वाङ्मनसागोचरस्वसंवेद्यस्वरूपभेदः . ज्ञानैकाकारतया अस्पृष्ट प्राकृतभेदः अविनाशित्वेन अस्तिशब्दवाच्यः

अचिदंशस्तु चिदंशकर्मनिमित्त परिणामभेदः विनाशीति नास्तिशब्दाभिधेयः । उभयंतु परब्रह्मभूतवासुदेवशरीरतया तदात्मकम्-इत्येतद् रूपं संक्षेपेण अत्राभिहितम् तथाहि—

यदम्बु वैष्णवः कायः ततो विप्र ! वसुन्धरा ।
पद्माकारासमुद्भूता पर्वताब्ध्यादिसंयुता ॥
(वि०पु० २।१२।३७)

इति अम्बुनो विष्णोः शरीरत्वेन अम्बुपरिणामभूतं ब्रह्माण्डमपि विष्णोः कायः; तस्य च विष्णुरात्मेति सकलश्रुतिगत तादात्म्योपदेशोपबृंहणरूपस्य सामानाधिकरण्यस्य "ज्योतींषि विष्णुः" इत्यारभ्य वक्ष्यमाणस्य शरीरात्मभाव एव निबन्धनमित्याह । अस्मिन् शास्त्रे पूर्वमप्येतदसकृद् उक्तम्- "तानि सर्वाणि तद्वपुः" (१।२२।५६) तत्सर्वं वै हरेस्तनुः (१।२२।३८) "स एष सर्वभूतात्मा विश्वरूपो यतोऽव्ययः" इति । तदिदं शरीरात्मभावायत्तं तादात्म्यं सामानाधिकरण्येन व्यपदिश्यते- 'ज्योतींषि विष्णुः' इति ।

अनुवाद—अद्वैती विद्वानों का उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त २ अंश के १२ वें अध्याय में पहले भुवनकोश

क विस्तृत स्वरूप बतलाकर उसके 'संक्षेप से सुनिये' इस ३७ वें श्लोक से रूपान्तर कहने का प्रारम्भ किया गया है। इस चेतन (जीव) एवं जड़ (प्रकृति) मिश्रित जगत् में चेतन का स्वरूप वाणी एवं मनका अविषय है क्योंकि वह केवल ज्ञान स्वरूप है। उसमें प्राकृत भेद छू तक नहीं गया है। चूँकि उसका विनाश नहीं होता है अतएव वह अस्तिशब्द से अभिहित होता है। और जगत् का जो जड अंश है। उसमें चेतन के कर्मों के कारण परिणाम जन्य भेद होते रहते हैं। वह विनाश शील है अतएव उसे नास्ति शब्द से अभिहित किया जाता है। चूँकि ये दोनो चेतन और जड़ परब्रह्म वासुदेव के शरीर हैं; अत भगवान् वासुदेव उनकी आत्मा हैं। वही निम्न श्लोक में इस प्रकार से कहा गया है–

जो पञ्चभूतों में जल है वह भगवान् विष्णु का शरीर है, हे विप्र! (मैत्रेय) उसमे पृथिवी उत्पन्न हुई। उसका आकार कमल के समान है। वह पर्वत समुद्र आदि से युक्त है। जल के भगवान् विष्णु का शरीर होने के कारण जल से उत्पन्न होने वाला ब्रह्माण्ड भी भगवान विष्णु का शरीर है। और भगवान् विष्णु उसकी आत्मा हैं। यह सभी श्रुतियों में बतलाये गये तादात्म्यापदेश के उपबृंहण (व्याख्या) रूप सामानाधिकरण्य को 'ज्योतींषि विष्णुः' इस श्लोक से प्रारम्भ किया गया है। इस तादात्म्य का कारण शरीरात्मभाव सम्बन्ध ही है, इस बात को उपर्युक्त 'यदम्बु' इत्यादि श्लोक में कहा गया है। इस श्रीविष्णुपुराण में जगत् और ब्रह्म के बीच होने वाले शरीरात्मभाव

संबन्ध को पहले भी कई बार कहा जा चुका है। जैसे. 'जगत् की सारी वस्तुएँ परमात्मा के शरीर हैं।'(१।२२।८६)'सम्पूर्ण जगत् श्री हरि का शरीर है।'(१।२।२८) (१।२।३६) में बतलाया गया है कि चूँकि परमात्मा के स्वरूप एवं स्वभाव में कोई विकार नहीं होता है अतएव वह अव्यय है। वह सम्पूर्ण जगत् के उसका रूप (शरीर) होने के कारण परमात्मा विश्वरूप है। इसतरह शरीरात्म भाव सम्बन्ध के अधीन होने वाले तादात्म्य को 'ज्योतींपि विष्णु' इत्यादि श्लोक में सामानाधिकरण्य द्वारा सम्पूर्ण ग्रहनक्षत्रादि जगत् को विष्णु स्वरूप बतलाया गया है।

सू०—अत्र अस्त्यात्मकं नास्त्यात्मकं च जगदन्तर्गतं वस्तु विष्णोः कायतया विष्ण्वात्मकमित्युक्तम्। इदमस्त्यात्मकमिदं नास्त्यात्मकम्। अस्य च नास्त्यात्मकत्वे हेतुः अयमित्याह—'ज्ञानस्वरूपो भगवान् यतोऽसौ इति। अशेष क्षेत्रज्ञात्मनावस्थितस्य भगवतो ज्ञानमेव स्वाभाविकं रुपम् न देव मनुष्यादिवस्तुरूपम्। यत एवं तत एव अचिद्रूप देवमनुष्यशैलाब्धि धरादयश्च तद्विज्ञान विजृम्भिताः। तस्य ज्ञानैकाकारस्य सतो देवद्याकारेण स्वात्मवैविध्यानुसंधानमूलाः देवाद्याकारानु सन्धानमूलकर्ममूला इत्यर्थः। यतश्चाचिद् वस्तु क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणपरिणामास्पदं ततः तन्नास्ति शब्दाभिधेयम्; इतरदस्ति शब्दाभिधेयम्, इत्यर्थादुक्तं भवति।

अनुवाद–इस श्री विष्णु पुराण नामक शास्त्र में अस्त्यात्मक (अविनाशी चेतनात्मक) और नास्त्यात्मक (विनाशी जडात्मक) जगत् के भीतर रहने वाली सारी वस्तुओं को भगवान् विष्णु के शरीर रूप से तथा भगवान् विष्णु को जगत् की आत्मा रूप से बतलाया गया है।

जगत् का यह अंश अस्त्यात्मक है और यह अंश नास्त्यात्मक है। इसके नास्त्यात्मक कहने का कारण यह है, इस बात को-ज्ञानस्वरूपोभगवान् यतोऽसौ इस श्लोक के द्वारा बतलाया गया है। इस श्लोक का अर्थ है कि– सभी जोवों के रूप में रहने वाले भगवान् का ज्ञान ही स्वाभाविक रूप है। देव मानव आदि रूप से प्रतीत होने वाला जीवों का स्वरूप वास्तविक नहीं है। चूंकि ऐसी बात है इसीलिए जडरूप प्रतीयमान देव, मानव, पर्वत, समुद्र आदि उस ज्ञानस्वरूप परमात्मा से उत्पन्न हैं। कहने का आशय है कि इस परमात्मा के स्वरूपभूत जीवों का भी स्वरूप ज्ञानमात्र ही है। उनकी देवता आदि रूप से जो उत्पत्ति होती है वह इस लिए कि परमात्मा ने अपनी आत्मा में देवादिरूप वैविध्य का अनुसंधान किया। यानी वे सभी देव आदि अपने आकारों के अनुसन्धान रूप कर्ममूलक हैं। चूकि ये जड़ वस्तुएँ जीवों के कर्मों के अनुसार परिणत होती रहती हैं। उनका सदा एकसा रूप नहीं रहता है अतएव इन्हें नास्ति शब्द से अभिहित किया जाता है। और उस जड वस्तु से भिन्न चेतनों को अस्ति शब्द से अभिहित किया जाता है, यह उपर्युक्त श्लोक का निर्गलित अर्थ है।

तदेव विवृणोति–यदा तु शुद्धं निजरूपि इति । यदैतत् ज्ञानैकाकारं आत्मवस्तु देवाद्याकारेण स्वात्मनि वैविध्यानुसंधानमूलसर्वकर्मक्षयात् निर्दोष परिशुद्धं निजरूपि भवति तदादेवाद्याकारेणैकीकृत्य आत्मकल्पनामूलकर्मफलभूताः तद्भोगार्थाः वस्तुषु वस्तुभेदाः न भवन्ति ये देवादिषु वस्तुषु आत्मतयाभिमतेषु भोग्यभूताः देवमनुष्यशैलधरादिवस्तुभेदाः, ते तन्मूलभूतकर्मसु विनष्टेषु न भवन्ति– इत्यचिद्वस्तुनः कादाचित्कावस्था विशेषयोगितया नास्तिशब्दाभिधेयत्वम् इतरस्य सर्वदा निजसिद्धज्ञानैकाकारत्वेन अस्तिशब्दाभिधेयत्वमित्यर्थः ।

अनुवाद–उपर्युक्त अर्थ का ही विवरण करते हुए यदातु शुद्धंनिजरूपि॰ इत्यादि श्लोक में कहते हैं कि–(जो वस्तु कालत्रय में आदि, मध्य और अन्त रहित है, तथा सर्वदा एक रूप है, वही अस्ति शब्द से अभिहित होती है।) इस ज्ञानस्वरूप आत्मा के अपने में देव आदि रूप से अनेकता के अनुसन्धान के मूल भूत सभी कर्मों का क्षय हो जाने से जब सभी दोषों से रहित, बिल्कुल शुद्ध और अविर्भूतगुणाष्टक हो जाता है तब देव आदि आकारों की प्रतीति नही होती। आत्मा का एक ही आकार प्रतीत होता है । आत्मा में वैविध्य की कल्पना के मूलभूत कर्मों के फल रूप से प्राप्त रूपादि भोग्य पदार्थ भी नहीं रहजाते हैं।

कहने का आशय है कि जो देव आदि आकारों की आत्मा रूप से प्रतीति काल में भोग्यभूत देव मनुष्य, पर्वत, पृथिवी आदि जो भेद हैं उन अनुभवों के मूल भूत कर्मों के नष्ट हो जाने पर वे भी नष्ट हो जाते हैं। इस तरह चूंकि जड़ वस्तुओं की अवस्थाओं को सदा एक समान होना रूप कादाचित्कावस्था से युक्त रहने के कारण उन्हें नास्ति शब्द से अभिहित किया जाता है। और उससे भिन्न चेतन के सदा अपने नित्य ज्ञान रूपी एक ही आकार से युक्त रहने के कारण उन्हें अस्ति शब्द से अभिहित किया जाता है।

मूल--प्रतिक्षणमन्यथाभूततया कादाचित्कावस्थायोगिनोऽचि-द्वस्तुनःनास्ति शब्दाभिधेयत्वमित्याह--'वस्त्वस्ति किम्' इति। अस्ति शब्दाभिधेयो ह्यादिमध्यपर्यन्तहीनः सततैक रूपः पदार्थः। तस्य कदाचिदपि नास्तिबुद्ध्यनर्हत्वात् अचित् वस्तु किञ्चित् क्वचिदपि तथाभूतंन दृष्टच-रम्। ततः किमित्यत्राह--यच्चान्यथात्वमिति। यद्वस्तु प्रतिक्षणमन्यथात्वं याति तत् उत्तरोत्तरावस्थाप्राप्त्या पूर्वपूर्वामवस्थां जहातीति। तस्य पूर्वावस्थस्य उत्तरा-वस्थायां न प्रतिसन्धानमस्ति, अतः सर्वदा तस्यनास्ति-शब्दाभिधेयत्वमेव। तथा ह्युपलभ्यत इत्याह-महीघट-त्वमिति। स्वकर्मणादेवमनुष्यादिभावेन स्तिमितात्मनि-

श्चयैः स्वभोग्यभूतं अचिद्वस्तु प्रतिक्षणमन्यथाभूतमाल-क्ष्यते अनुभूयते, इत्यर्थः । एवं सति किमप्यचिद् वस्तु अस्तिशब्दार्हं आदिमध्यपर्यन्तहीनं सतैतकरूपमालक्षितमस्ति किम् ? नह्यस्तीत्यर्थभिप्रायः ।

अनुवाद–प्रतिक्षण बदलते रहने के कारण कादाचित्काव-स्था वाली जड वस्तुएं नास्ति शब्द से ही अभिहित होती हैं; इस बात को-नस्त्वस्ति किम् ? इत्यादि श्लोक से कहा गया है । अस्ति शब्द से अभिधान उसी पदार्थ का होना है, जो आदि मध्य और अन्त से रहित है तथा सदा एक रूप है । उस (आत्मा) में कभी भी अभाव की बुद्धि होती ही नहीं है । कोई भी जड वस्तु कहीं भी उस प्रकार की नहीं देखी गयी है (जो सदा एक रूप तथा अनादि एवं अनन्त हो । इससे क्या हुआ इस बात को-'यच्चान्यथात्वम्' इत्यादि श्लोक से कहा गया है । इस श्लोक का आशय है कि जो वस्तु प्रतिक्षण बदलती रहती है वह उत्त-रोत्तरावस्था की प्राप्ति करते हुए पूर्व-पूर्व की अवस्थाओं का त्याग करती है । अतएव पूर्वावस्था में विद्यमान वस्तु का उत्त-रावस्था में अनुसंधान नही होता है । चूँकि सर्वदा वह नास्ति शब्द वाच्य ही है । अचिद् वस्तु की तो हरक्षण बदलती हुई अवस्था में ही उपलब्धि होती है; इस बात को-मही-घटत्वम्" इत्यादि श्लोक से कहा गया है । इस श्लोक का आशय है कि-अपने पूर्व जन्म के कर्मो के कारण आत्मा की देव, मनुष्य आदि रूप से प्रतीति होने से जिनका आत्मनिश्चय प्रतिबद्ध हो

गया है ऐसे जीवों के द्वारा अपनी भोग्यभूत सारी जड वस्तुएँ प्रतिक्षण बदलती हुई अपने ही आखों देखी जाती हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी जड वस्तु अस्तिशब्द से कहने योग्य आदि मध्य एवं अन्त रहित तथा सदा एक रूप आलक्षित होती है क्या? अर्थात कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो अस्ति शब्द से कही जा सके, यह श्लोक का अभिप्राय है।

मू०—यस्मादेवं तस्मात् ज्ञानस्वरूपमात्मव्यतिरिक्त मचिद् वस्तु, कदाचित् क्वचित् केवलास्तिशब्दवाच्यं न भवति, इत्याह—'तस्मान्न विज्ञानमृते' इति। आत्मातु सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया देवादिभेदप्रत्यनीकस्वरूपोऽपि देवादि शरीरप्रवेशभूतस्वकृतविविध कर्ममूल देवादिभेद-भिन्नात्मबुद्धिभिस्तेन-तेन रूपेण बहुधाऽनुसंहित इति। तद् भेदानुसंधानं नात्मस्वरूपप्रयुक्तमित्याह "विज्ञान-मेकम्" इति।

चूँकि ऐसी बात है अतएव ज्ञानस्वरूप आत्मा को छोड़कर जड़ वस्तु कभी और कहीं भी केवल अस्ति शब्द वाच्य नहीं होती है, इस बात को–'तस्मान्न विज्ञानमृते' इत्यादि श्लोक से कहा गया है। आत्मा सर्वत्र (सभी शरारों में केवल ज्ञानरूप ही आकार वाला रहता है। देव आदि भेदों के विरोधी स्वरुप वाला होकर भी देव आदि शरीरों में प्रवेश के कारणभूत अपने किये गये अनेक कर्मों के कारण जिनकी आत्मा विपयि-

णो बुद्धि देवादि भेदों से भिन्न-भिन्न हो गयी है। (अर्थात् जो आत्मा को देव, मनुष्य आदि रूपों से मानते हैं उनके द्वारा। आत्मा देव, मानव आदि रूपों से अनेक आकारों वाली स्वीकार की जाती है। किन्तु यह आत्मा का अनेक रूपों में स्वीकार आत्म स्वरुप की भिन्नता के कारण नहीं है, अपितु औपाधिक ही है। इस बात को 'विज्ञानमेकम्' इत्यादि श्लोक से कहा गया है।

मू०—आत्मस्वरूपं तु कर्मरहितम्, तत एव मलरूपप्रकृति स्पर्शरहितम्। ततश्च—तत्प्रयुक्तशोकमोहलोभाद्यशेष-हेयगुणासङ्गि उपचायापचायानर्हतयैकम्; तत एव सदैकरूपम्। तच्चावासुदेवशरीरमिति तदात्मकम्; अतदात्मकस्य कस्यचिदप्यभावादित्याह—ज्ञानं विशुद्ध-मिति। चिदंशः सदैकरूपतया सर्वदाऽस्तिशब्दवाच्यः। अचिदंशस्तु क्षणपरिणामित्वेन सर्वदा नाशगर्भ इति सर्वदानास्तिशब्दाभिधेयः एवं रूप चिदचिदात्मकं जगद्वासुदेवशरीरमिति तदात्मकं जगद् याथात्म्यं सम्यगुक्तमित्याह—"सद्भाव एवम्' इति। अत्र सत्यमसत्यमिति 'यदस्ति यन्नास्ति' इति प्रक्रान्तस्योप-संहारः। एतत् ज्ञानैकाकारतया सममशब्दगोचर स्वरूपभेदमेवाचिन्मिश्रं भुवनाश्रितं देवमनुष्यादिरूपेण

सम्यग्व्यवहारार्हमेदं यद् वर्तते तत्र हेतुः कर्मेवेत्याह–
एतत् तु यत्' (वि० पु० २।१२।४५) इति । तदेव
विवृणोति—"यज्ञः पशुः" (२।१२।४६) इति ।
जगत् याथात्म्य ज्ञान प्रयोजनं मोक्षोपायायतनमित्याह–
'यच्चैतत्" (२।१२।४) इति ।

अनुवाद–आत्मा का स्वरूप तो कर्मरहित होता है। अतएव वह मलरूप प्रकृति के स्पर्श से रहित है। इसीलिए वह प्रकृति के स्पर्श से होने वाले शोक, मोह, लोभ आदि त्याज्यगुणों से रहित है। उसमें कोई वृद्धि अथवा ह्रास नहीं होते अतएव वह एक है तथा सदा एक रुप ही रहता है। वह आत्मा भगवान् वासुदेव का शरीर है, अतएव वह वासुदेवात्मक है। क्योंकि जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो वासुदेवात्मक न हो। इसी अर्थ को ज्ञानं विशुद्धम् इत्यादि श्लोक से कहा गया है।

चूँकि जगत् का चेतनांश सदा एक रुप रहता है, अतएव वह सर्वदा अस्ति शब्द वाच्य है। अचेतनांश तो क्षण-क्षण परिणत होता रहता है, अतएव वह सदा नाश के ही गर्भ में रहता है अतएव वह सर्वदा नास्ति शब्द वाच्य है। इस तरह चेतनाचेतनात्मक जगत् भगवान् वासुदेव का शरीर है अतएव वह भगवदात्मक है, इस तरह मैंने (महर्षि पराशर ने) अच्छी तरह जगत् का स्वरुप बतला दिया, इस बात को–" सद्भाव एवम् " इत्यादि श्लोक से कहा गया है। इस श्लोक के द्वारा सत्य और असत्य का विवेचन जिसे अस्ति एवं नास्ति शब्द

के द्वारा उपक्रान्त किया गया है, उसका उपसंहार किया गया है। आत्मा का स्वरुप सभी शरीरों में केवल ज्ञान स्वरुप होने के कारण समान आकर वाला है। आत्माओं में होने वाला स्वरुप का भेद अवर्णनीय है। वही आत्मा संसार के अधीन होकर जड मिश्रित होता है, तब उसके देव, मानव आदि रूप से व्यवहार होते हैं, उसका भी कारण कर्म ही है इस अर्थ को 'एतत् तुयत् इत्यादि श्लोक के द्वारा कहा गया है। और 'यज्ञः पशुः इत्यादि (२।१२।४६) श्लोक के द्वारा उसी अर्थ को और विस्तार से कहा गया है। (२।१२।४७) श्लोक, यच्चैतत् इत्यादि में यह बतलाया गया है कि-इस जगत् के याथात्म्य ज्ञान का प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयास ही है।

सू०— अत्र निर्विशेषे परे ब्रह्मणि तदाश्रये सदसदनिर्वचनीये चाज्ञाने जगतः तत्कल्पितत्वे वाऽनुगुणं किञ्चिदपि पदं न दृश्यते। अस्ति नास्ति शब्दाभिधेयं चिदचिदात्मकं कृत्स्नं परमस्य परेशस्य परब्रह्मणो विष्णोः कायत्वेन तदात्मकम्। ज्ञानैकाकारस्यात्मनो देवादि विविधाकारानुभवेऽचित् परिणामे च हेतुर्वस्तु याथात्म्यज्ञानं विरोधि क्षेत्रज्ञानां कर्मेति प्रतिपादनात् अस्ति नास्ति सत्यासत्यशब्दानां च सदसदनिर्वचनीय-वस्त्वभिधानासामर्थ्याच्च नास्ति असत्य शब्दो अस्ति-

शब्दविरोधिनौ; अतश्च ताभ्यामसत्त्वं हि प्रतीयते नानिर्वचनीयत्वम् ।

अत्र चाचिद्वस्तुनि नास्त्यसत्यशब्दौ न तुच्छत्वपरौ प्रयुक्तौ; अपितु विनाशित्वपरौ । "वस्त्वस्ति किम्' 'मही घटत्वम्' इत्यत्र विनाशित्वमेव ह्युपपादितम्, न निष्प्रमाणकत्वं, ज्ञानबाध्यत्वं वा, एकेनाकारेणैकस्मिन् कालेऽनुभूतस्य कालान्तरे परिणाम विशेषेणान्यथोपलब्ध्या नास्तित्वोपपादनात् । तुच्छत्वं हि प्रमाणसंबन्धानर्हत्वम् । बाधोऽपि यद्देश कालादि संबन्धितया यदस्तीत्युपलब्धम्; तस्य तद्देशकालादिसंबन्धितया नास्तीत्युपलब्धिः; नतु कालान्तरेऽनुभूतस्य कालान्तरे परिणामादिना नास्तीत्युपलब्धिः कालभेदेन विरोधाभावात्; अतो न मिथ्यात्वम् ।

अनुवाद—उस प्रकरण में कोई ऐसा पद नहीं दिखायी पड़ता है जो कि निर्विशेष परंब्रह्म अथवा ब्रह्म को अपना आश्रय बनाने वाले अज्ञान को जगत् की कल्पना का समर्थन करे । अस्ति नास्ति शब्द से कहे जाने वाले चेतना चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् सर्वोत्कृष्ट, सर्वों के स्वामी परंब्रह्म विष्णु का शरीर है और वे सम्पूर्ण जगत् की आत्मा हैं । ज्ञान मात्र स्वरूप वाले जीवों देव

आदि अनेक आकारों के अनुभव अचेतन के परिणाम का कारण वस्तु के वास्तविक ज्ञान का विरोधी जीवों का कर्म ही है इस अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण और चूँकि अस्ति-नास्ति, सत्य-असत्य शब्दों का सामर्थ्य नहीं है कि वे सदसदनिर्वचनीय वस्तु (अज्ञान) के वाचक हो सकें अतएव नास्ति एवं असत्य शब्द अस्ति और सत्य शब्द के विरोधी हैं, अतएव उन दोनों के द्वारा असत्त्व मात्र की ही प्रतीति होती है, अनिर्वचनीयत्व की नहीं।

इस प्रकरण में अचेतन वस्तु के विषय में प्रयुक्त नास्ति और असत्य शब्द तुच्छत्व एवं मिथ्यात्व के वाचक नहीं हैं; बल्कि वे विनाशि वस्तु के वाचक हैं। 'वस्त्वस्ति किम्' 'महीघटत्वम्' इत्यादि श्लोक में विनाशित्व का ही प्रतिपादन किया गया है, प्रमाण रहितत्व अथवा ज्ञानबाध्यत्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है। क्योंकि एक काल में एक आकार से अनुभूत (देखे गये) वस्तु का कालान्तर में परिणाम विशेष के कारण दूसरे रूप में उपलब्ध होने वाली अचिद् वस्तुओं को नास्ति शब्द वाच्य कहा गया है। तुच्छ तो उस वस्तु को कहते हैं जिसका किसी प्रमाण से सम्बन्ध नहीं हो सके। जिस देश जिसकाल में जिसवस्तु की उपलब्धि हो उसी देश एवं उसीकाल में उसी वस्तु की अभाव रूप से उपलब्धि का ही नाम बाध है। देशान्तर एवं काला-न्तर में देखी गयी वस्तु का परिणाम आदि के द्वारा अभाव हो जाने को बाध नहीं कहते हैं। क्योंकि किसी वस्तु का बाध

अनुभव विरोध के ही कारण होता है । देशान्तर एवं कालान्तर में अनुभूत वस्तु का देशान्तर कालान्तर में अभाव होने पर भी दोनों ज्ञानों में कोई विरोध तो है नहीं क्योंकि कालान्तर एवं देशान्तर के द्वारा ज्ञान विरोध का परिहार हो जाता है । अतएव उस वस्तु को मिथ्या भी नहीं कह सकते हैं ।

मूल—एतदुक्तं भवति—ज्ञानस्वरूपमात्मवस्तु आदिमध्यपर्यन्त हीनं सततैक स्वरूपमिति स्वत एव सदा अस्ति शब्द वाच्यम् । अचेतनं तु क्षेत्रज्ञभोग्यभूतं तत्कर्मानुगुण-परिणामि विनाशीति सर्वदा नास्त्यर्थगर्भमिति नास्त्य-सत्यशब्दाभिधेयम्—इति ।

यथोक्तम्—यत्तु कालान्तरेणापिनान्यसंज्ञामुपैति वै ।

परिणामादि संभूना तद् वस्तु नृप तच्च किम् ॥

(वि०पु० २।१३।१०)

अनाशीपरमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते ।

तत्तुनास्ति न संदेहो नाशिद्रव्योपपादितम् ॥इति

(वि०पु० २।१४।२४)

देशकाल कर्मविशेषापेक्षया अस्तित्व नास्तित्व योगिनि वस्तुनि केवलास्ति बुद्धिबोध्यत्वं अपरमार्थः इति ह्यपरमार्थ इत्युक्तम् । आत्मन एव केवलास्ति

बुद्धिज्ञोऽध्यत्तमिति स परमार्थ इत्युक्तम्। श्रोतुश्च मैत्रेयस्य

विष्ण्वाधारं यथा चैतत् त्रैलोक्यं समवस्थितम्।
परमार्थश्च मे प्रोक्तः यथाज्ञान प्रधानतः ॥
(वि०पु० २।२।२)

इत्यनुभाषणाच्च "ज्योतींषि विष्णुः" इत्यादि सामानाधिकरण्यस्य आत्मशरीरभाव एव निबन्धनम्। चिदचिद् वस्तुनोश्च अस्ति नास्ति प्रयोगनिबन्धनम् ज्ञानस्य अकर्म निमित्तस्वाभाविकरूपत्वेन प्राधान्यं, अचिद्वस्तुनश्च तत्कर्मनिमित्त परिणामित्वेन अप्राधान्यं' इति प्रतीयते।

अनुवाद–उपर्युक्त परिच्छेद का आशय है कि- आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह, आदि मध्य और अन्त से रहित है। वह सदा एक रूप रहता है अतएव अस्तिशब्द वाच्य है। अचेतन वस्तु तो जीवों के भोग्य भूत हैं, जीवों के कर्मों के अनुसार उनका परिणाम होता रहता है। वे विनाशवान् हैं अतएव सर्वदा अभाव के गर्भ में रहते हैं। ऐसी वस्तुओं को 'नास्ति' एवं 'असत्य' शब्द से अभिहित किया जाता है। जैसा कि श्री विष्णु पुराण के १।१३।१० श्लोक में कहा गया है– 'जो वस्तु कालान्तर में भी परिणामादि जन्य भिन्न संज्ञा को नहीं प्राप्त करती है। हे

राजन् वही आत्म वस्तु अस्ति शब्द वाच्य है, उससे भिन्न वह क्या हो सकती है ? तथा विष्णु पुराण के २।१४।२४ श्लोक में बतलाया गया है कि– आत्मा को विद्वान लोग नाश रहित और परमार्थ स्वीकार करते हैं वह वस्तु तो निःसन्देह ही नास्ति शब्द वाच्य है जो नाशवान् द्रव्य से बनी है।

देश विशेष, कालविशेष एवं कर्मविशेष के कारण जिन वस्तुओं में अस्तित्व एवं नास्तित्व बुद्धि हुआ करती है, उस वस्तु को केवल अस्तित्व बुद्धि का विषय मानना अयुक्त है। साथ ही साथ यह भी बतलाया गया है कि आत्मा को ही केवल अस्तित्व बुद्धि का विषय, जो माना जाता है, वही परमार्थ है। इसके पश्चात् श्रोता मैत्रेय भी (वि०पु० २।२।२) में कहते हैं कि आपने मुझे बतलाया कि– यह त्रैलोक्य विष्णु रूपी आधार पर कैसे टिका हुआ है, तथा ज्ञान स्वरूप आत्मा की प्रधानता रूप परमार्थ का प्रतिपादन आपने किया है। इस तरह निश्चित होता है कि ज्योतींषि विष्णु इत्यादि सामानाधिकरण्य वाक्यों में अभेद प्रतिपादन का कारण शरीर शरीरीभाव है। चेतन एवं अचेतन वस्तुओं को अस्ति एव नास्ति शब्द से अभिहित किये जाने के कारण का प्रतिपादन यहाँ किया गया है। ज्ञानस्वरूप आत्मा में कर्मों के कारण परिणाम नहीं होने से उसको सदा एक रूप रहने से उसकी स्वाभाविक प्रधानता है और अचेतन वस्तुएँ जीवों के कर्मों के कारण परिणत होती रहती हैं, अतएव वे अप्रधान हैं; इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, यह प्रतीत होता है।

हिन्दी श्रीभाष्य के विशिष्ट सहायक तथा ग्राहक

१–श्री नारायण वाड़ी ट्रस्ट खाडिलकर रोड वम्बई ४०००)

२–श्री रघुनन्दन प्रसाद जी वार्ष्णेय मिल्सी वदायूँ १०१)

३–गेंदालाल महावीर प्रसाद जैन इटिया थोक वाजार १०१)

४–श्री मान पं० देवनायक उपाध्याय ग्राम पो० मुनावारी
भया विश्वनाथ चराली जि०-दरंग आसाम १०१)

५–श्री लोहा सिंह ग्रा०-सिताव दियरदलजीत टोला पो०-गरीवा
टोला सारन (छपरा) (विहार) १०१)

६–श्री राजपति शुक्ल धर्म समाज संस्कृत महाविद्यालय
मुजफ्फरपुर विहार १०१)

७–श्री गोविन्दरामानुज दास
पता:–श्री सुमन कुमार सुरेश कुमार मिर्जापुर १०१)

८–विजय कुमार सिंह ग्राम-कैलावर पो०-मथेला
जि०-वाराणसी १०१)

श्री योगिराज ब्रह्मनिष्ठ श्री १००८ श्री देवरहा बाबा के शुभाशीर्वचनं

विश्व प्रसिद्ध श्रुतप्रकाशिका व्याख्या के अनुसार 'हिन्दी श्रीभाष्य' का अनेक भागों में मनोज्ञ प्रकाशनकर अयोध्या की हिन्दी श्रीभाष्य प्रकाशन योजना समिति ने एक बहुत बड़ी कमी की युगानुकूल पूर्ति की है। मैं इसके उत्तरोत्तराभ्युदय की कामना करता हूँ।

देवरहा बाबा



* पुस्तक प्राप्ति स्थान *

१:—हिन्दी श्रीभाष्य प्रकाशन योजना समिति
श्याम सदन, मु०—कटरा, पो०—अयोध्या, जि०—फैजाबाद (उ०प्र०)

२:—जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी-
रामन [illegible] णाचार्यजी
श्रीकोशलेश सदन, कटरा, पो०—अयोध्या, जि०—फैजाबाद (उ०प्र०)

३:—श्री स्वामी वीर राघवाचार्य शास्त्री
पुरानी यज्ञवेदी, पूर्व फाटक (उत्तर स्थान) पो०—अयोध्या
जिला—फैजाबाद (उ० प्र०)
पि० नं० २२४१२३

श्याम मुद्रणालय, कटरा, अयोध्या